गुरुकुल-पत्रिका

शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक
डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार
वेदाचार्य, एम.ए., पी-एच.डी.
प्रोफेसर - वेद विभाग
एवं
निदेशक -
श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान

उपसम्पादक -
डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री 'धर्ममार्तण्ड'
वरिष्ठ प्रवक्ता, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार- 249404

मार्च, अप्रैल, मई, जून	वर्ष	फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ
1997	48	2054

सम्पादक मण्डल

प्रकाशक : प्रो० श्याम नारायण सिंह
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार- २४९४०४

मूल्य : २५ रुपये (वार्षिक)

ऑफसैट प्रिंटिंग प्रैस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल फोन: 425975

विषय-सूची

श्रुति-सुधा

ओं माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्तऽआतानानर्वा प्रेहि।

घृतस्य कुल्याऽउपऋतस्य पथ्याऽअनु।।

यजु० ६ १२

पदार्थ- हे (आतान) अच्छे प्रकार सुख के विस्तार करनेवाले विद्वान! तू (मा) मत (अहि) सर्प के समान कुटिलमार्गगामी और (मा) मत (पृदाकु.) मूर्खजन के समान अभिमानी व व्याघ्र के समान हिंसा करने वाला (भू.) हो (ते) (नम·) सब जगह तेरे सुख के लिए अन्न आदि पदार्थ पहले ही प्रवृत्त हो रहे हैं और (अनर्वा) अश्व आदि सवारी के बिना निराश्रय पुरुष जैसे (घृतस्य) जल की (कुल्या) बडी धाराओं को प्राप्त हो वैसे (ऋतस्य) सत्य के (पथ्या.) मार्गों को प्राप्त हो।

भावार्थ- किसी मनुष्य को कुटिलगामी सर्प आदि दुष्ट जीवो के समान धर्ममार्ग मे कुटिल न होना चाहिए किन्तु सर्वदा सरलभाव से ही रहना चाहिये।

(महर्षि दयानन्द सरस्वती)

आधुनिक हिन्दी में कर्त्ता और विधेय का निर्धारण और उनका अर्थपरक व वाक्यविन्यासी विश्लेषण

ओलेग. उलत्सिफेरोव[1]

आधुनिक साहित्यिक हिन्दी (आगे आसाहि) मे बनावट और व्याकरणिक अर्थ की दृष्टि से दो प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं उद्देश्यप्रधान जिसमे उद्देश्य एकवचन तथा बहुवचन के परसर्गहीन रुप में विधेय से नियमानुसार समन्वित होता है और कर्त्ताप्रधान जिसमें कर्त्ता सदा परसर्गसहित प्रयुक्त होता है और इसलिए विधेय से समन्वित नहीं होता। आसाहि में एक प्रकार के उद्देश्यप्रधान वाक्य (*बालक किताब पढता है*) का मुकाबला सात प्रकार के कर्त्ताप्रधान वाक्यों से होता है जिनमें निम्नलिखित वाक्य आते हैं १ साधक कारकीय (*बालक ने किताब पढी*), २. कर्मवाच्य (*बालक द्वारा किताब पढी गयी*), ३ संप्रदानवाचक (*बालक को किताब पढनी पडी*), ४ भाववाच्य (*बालक से किताब नहीं पढी जाती*), ५. स्वामित्ववाचक (*बालक के पास किताब नहीं है*), ६ स्थानवायक (*बालक में हिम्मत नहीं है*) और ७ तुमर्थपरक (*बालक को किताब पढना आवश्यक है*)।

अविस्तृत उद्देश्यप्रधान वाक्य अनिवार्यत द्विघटकीय होता है जिसमें विधेय के साथ एकवचन तथा बहुवचन के परसर्गहीन रुप में उद्देश्य जो यहां कर्त्ता की भूमिका भी निभाता है यानी कर्त्तावाचक उद्देश्य आता है। विधेय निम्नलिखित रुपो में आता है : १ पुरुषवाचक (*मैं चलूं*), २ पुरुषवाचक-लिंगदर्शक (*बालक आयेगा*), ३ कर्तृवाच्य के अपूर्ण कृदंत (*बालक नहीं सोता*), ४. कर्तृवाच्य के पूर्ण कृदंत (*बालक आया*), ५ पूर्ण क्रियाविशेषणात्मक (*आदमी पिये हुए था*), ६. संतत कृदंत (*बालक जा रहा है*), ७ स्थायी गुणवाचक कृदंत (*बालक जाने वाला है*), ८. नामिक अंक (*आसमान नीला*)।

भाषीय प्रयोग के प्रभावस्वरुप ऐसे वाक्यों में (मुख्यत: बोलचाल की भाषा में) कोई एक मुख्य संघटक **छूट सकता है, परन्तु वह सदा अपना स्थान सुरक्षित रखता है** : *तुम चलोगे?, चलूंगा, वह आया? हां, अकेली राते, प्रभात और संध्या बेलाएं, जलती दोपहरी* (चतुरसेन शास्त्री)।

अविस्तृत साधक कारकीय वाक्य अनिवार्यत: त्रिघटकीय होता है। इसमें कर्त्ता ने परसर्गसहित आता

---

१. **लेखक रुस में हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् के रुप में** जाने जाते हैं। दिल्लीस्थ रुसी दूतावास में **भूतपूर्व संस्कृति विभागाध्यक्ष एवं रुसी विदेश मंत्रालय के वरिष्ठ** परामर्शदाता, रुस भारत मैत्री संघ के **कार्यकारिणी सदस्य के रुप में जाने जाते हैं। 'हिन्दी में शब्द बन्ध'** और 'हिन्दी में क्रिया' 'हिन्दी का व्यावहारीक **कोश' 'हिन्दी का भाषा वैज्ञानिक शब्द कोश'** आपकी विशिष्ट हिन्दी रचनाऐं हैं।

–सम्पादक

है ... क्रिया का परसर्गहीन मुख्य कर्म वाक्यगत उद्देश्य का स्थान लेता है जिसके साथ विधेय नियमानुसार ... होता है : बालक ने किताब पढी। यदि मुख्य कर्म परसर्गसहित प्रयुक्त होता है तो वाक्य उद्देश्यहीन रह जाता है जिसके कारण विधेय भाववाचक हो जाता है : बालक ने किताब को पढा।

भाषायी प्रयोग के प्रभावस्वरुप यहां (विशेषकर बोलचाल की भाषा में) कोई एक या कोई दो मुख्य संघटक छूट सकते है : किसने किताब पढी? बालक ने, बालक ने क्या पढ़ा? किताब। इसके अतिरिक्त उद्देश्य आश्रित वाक्य में रुपांतरित हो सकता है उसने कहा कि ...।

अविस्तृत कर्मवाच्य वाक्य भी अनिवार्यत: त्रिघटकीय होता है, हालांकि भाषीय प्रयोग के प्रभावस्वरुप व्यापार का कर्त्ता अपना स्थान सुरक्षित रखते हुए अक्सर लुप्त होता है। इस कारण से यह वाक्य साधक कारकीय वाक्य से भिन्न होता है क्योंकि इसमें कर्त्ता संरचनात्मक तौर पर सदा ही उपस्थित होता है। सकर्मक क्रिया का परसर्गहीन मुख्य कर्म यहां भी वाक्यगत उद्देश्य हो जाता है जिसके साथ विधेय नियमानुसार समन्वित होता है : किताब (बालक द्वारा) पढ़ी गयी। अगर यह कर्म परसर्गहीन प्रयुक्त होता है तो वाक्य उद्देश्यहीन रह जाता है जिसके कारण विधेय भाववाचक हो जाता है (बालक को बुलाया गया)।

अविस्तृत संप्रदानवाचक वाक्यों को पांच श्रेणीयों में बाँटा जा सकता है जिनमें दो मुख्य हैं। इन वाक्यो ... यह है कि इनमें कर्त्ता सदा ही को परसर्गसहित आता है।

पहली श्रेणी मे आवश्यकताबोधक रचनाएं आती हैं जिनका विधेय पड़ना एवं होना क्रियाओं तथा चाहिए ... शब्द और कृदतपरक (विकारी) तुमर्थ के योग से बनता है। अकर्मक तुमर्थ के चलते रचना द्विघटकीय होती है और सकर्मक तुमर्थ के चलते त्रिघटकीय होती है। सकर्मक क्रिया को परसर्गहीन कर्म यहां भी ... उद्देश्य बन जाता है : बालक को जाना है, बालक को किताब पढनी है। ऐसी रचनाओं में कर्म सपरसर्ग बहुत कम आता है।

दूसरी श्रेणी में स्थायी त्रिघटकीय रचनाएं आती है जो लक्षणान्वित कर्त्ता, वाक्यगत उद्देश्य के कार्य में प्रयुक्त होने वाली संज्ञा, जो प्रभावन का सामान्य अर्थ प्रकट करती है, और हैं (होना) स्थितिदर्शक स... क्रिया के योग से बनती है। यहां आने वाली संज्ञाओं की प्राय: बंद सूची है जिसमें ६० संज्ञाएं आती है : ... पंडित सर्वदयाल को घृणा थी (जैनेन्द्र कुमार), प्यारी को कोई बेचैनी नहीं होती (रांगेय राघव)। यहां भी भाषी प्रयोगके प्रभावस्वरुप (मुख्यत: बोलचाल की भाषा में) कर्त्ता छूट सकता है : आपसे मिलकर बडी खुशी है।

अविस्तृत भाववाच्य वाक्य में जाना सहायक क्रिया से बने पूर्ण कृदंत के रुप प्रयुक्त होते हैं। साधक कारकीय वाक्यों के प्रतिकूल यहां न केवल सकर्मक वरन् अकर्मक क्रियाओं से बने कृदंत भी आते हैं। ... क्रिया के चलते रचना त्रिघटकीय है और अकर्मक क्रिया के चलते द्विघटकीय है। कर्मवाच्य वाक्य के प्रतिकूल यहां से परसर्गसहित कर्त्ता केवल विशेष अपवादगत स्थितियों में छूट सकता है। यहां व्यापार की अपनी विशेषता भी है क्योंकि यहां व्यापार संपन्न करने की कर्त्ता की असमर्थता या अनिच्छा पर जोर दिया जाता है। इसी

कारण से विधेय बहुधा नकारात्मक आता है। त्रिघटकीय रचना में विधेय नियमानुसार वाक्यगत ... समन्वित होता है : *मेरा सुख भगवान् से नहीं देखा गया* (प्रेमचंद), . . *पर यहां आठो पहर की बकबक उस‍ न सही गयी* (प्रेमचंद)। द्विघटकीय रचना में विधेय सदा भाववाचक रुप मे आता है मुझसे तो ऊपर न लेटा गया (अश्क), *उसकी स्त्री से न रहा गया* (प्रेमचंद)।

सामान्यकृत कर्त्ता यहां मुख्यतः लुप्त होता है : तकदीर से लडा नहीं जाता (चार दरवेश की कहानी) *एक निश्चित धन देने पर उसका सदस्य बना जा सकता है* (आर क ...प्त)।

अविस्तृत स्वामित्ववाचक वाक्य संरचनात्मक-अर्थपरक दृष्टि से सब से स्थिर है क्योकि स...नात्मक बनावट की दृष्टि से वह सदा ही त्रिघटकीय है। इस रचना का कर्त्ता के पास और के यहा और ...सा अर्थ मे प्रयुक्त के स्वामित्वसूचक परसर्गो के साथ आता है : *बड़े आदमियों के पास धन है* (प्रेमचद), *सत्यवान के कोई सतान नहीं हुई* (भोलानाथ तिवारी)।

अविस्तृत स्थानवाचक वाक्य भी स्थिर होता है। यहां कर्त्ता में परसर्ग के साथ आता है और वाक्यगत उद्देश्य भाववाचक संज्ञा द्वारा व्यक्त होता है : *मृदुला में संकीर्णता और ईर्ष्या न थी* (प्रेमचंद)।

जैसा कि उदाहरणों से विदित है, दो अंतिम वाक्यभेदों में विधेय की हैसियत से *ह (होना)* स्थितिदर्शक क्रिया आती है।

तुमर्थपरक वाक्यों मे आसहि में तुमर्थ की विशेषता के कारण ही तुमर्थ और विधेय का समन्वय नहीं हो सकता है और विधेय न केवल संलग्न संज्ञा से अन्वित होता है बल्कि वह तुमर्थ से सार्थक विराम से ही अलग हो सकता है जो लिखने में कामा (अर्द्धविराम) द्वारा दिखाया जाता है: *बड़ा हाशिया छोडकर लिखना, द फ्तर में एक उन्हीं की आदत थी* (शानी)। इस तरह तुमर्थपरक वाक्य मानों दो भागों में विभक्त होता है तुमर्थ द्वारा व्यक्त प्रकरण (टोपिक), जिसमें पूरानी सूचना निहित है, और संज्ञा और विधेय से बने पदबंध द्वारा प्रकट विवरण (कामेन्टरी), जिसमें नयी सूचना निहित है : *उसका न चुना जाना मेरी पराजय थी* (अश्क)। यहा विधेय के प्रकार्य में मुख्यतः *ह (होना)* स्थितिसूचक क्रिया आती है।

आसाहि में एक और विशेषता है प्रेरणार्थक क्रियाओं के साथ अनेक कर्त्ताओं का प्रयोग जिसके कारण वाक्य में वाक्यगत उद्देश्य के अतिरिक्त तीन कर्त्ता उपस्थित हो सकते है। *अम्मा ने आया से बच्चे को दूध पिलाया* वाक्य में पहले दर्जे का कर्त्ता है *(अम्मा ने)*, जो दूसरे दर्जे के प्रेरित कर्त्ता *(आया से)* को आदेश देता है कि वह बच्चे को दूध पिला दे। बच्चे को का संघटक व्यापार के प्रच्छन्न कर्त्ता के प्रकार्य मे आता है क्योंकि वास्तव में बच्चे ही ने दूध पिया। प्रेरणार्थक विधेय *(पिलाया)* वाक्यगत उद्देश्य *(दूध)* के साथ नियमानुसार समन्वित होता है। जब प्रच्छन्न कर्त्ता प्रयुक्त नहीं होता तो रचना द्विकर्त्तावाचक हो जाती है *डाक्टर साहब ने साईस से कुछ आम तुड़वाये* (प्रेमचंद)। भाषीय प्रयोग के प्रभावानुसार दूसरे दर्जे का प्रेरित कर्त्ता अपना स्थान सुरक्षित करते हुए लुप्त हो सकता है : *शाहजहां ने ताजमहल बनवाया*।

जैसा कि उपरोक्त सभी उदाहरणों से विदित होता है, आसाहि में सरल अविस्तृत वाक्य अनिवार्यतः द्विघटकीय यानी कर्त्ता और विधेय से बना होता है . *मुझे जाना है, बालक से सोया नहीं जाता।* कुछ रचनाओं में कर्त्ता और उद्देश्य का प्रकार्य एकीभूत हो जाता है और तब एक नयी व्याकरणिक कोटि बन जाती है कर्त्तावाचक उद्देश्य : *बालक आएगा, बालक पढ़ता है, बालक गया।* सरल अविस्तृत वाक्य तब अनिवार्यत त्रिघटकीय हो जाता है जब इसमें कर्त्ता और विधेय के अतिरिक्त वाक्यगत उद्देश्य आता है। इसके प्रकार्य में निम्न पदरुप प्रयुक्त हो सकते है : १. क्रिया का कर्मवाचक विस्तारक जो कुछ उपरोक्त वाक्यों मे वाक्यगत उद्देश्य की भूमिका निभाता है, २. प्रभावन के अर्थ में प्रयुक्त होने वाली कुछ संज्ञाएं, ३ निश्चित अर्थश्रेणियो की कुछ जातिवाचक एवं भाववाचक संज्ञाएं (स्वामित्ववाचक और स्थानवाचक वाक्यों में), ४ विधेय सलग्न संज्ञाएं (तुमर्थपरक वाक्य में)।

जैसा कि अच्छी तरह ज्ञात है, कर्त्ता व्यापार (या प्रक्रिया) का एक मुख्य पात्र है जिसका चुनाव विधेय के शाब्दिक-व्याकरणिक रुप और अर्थपरक सार के आधार पर किया जाता है।

आसाहि में विधेय की उन विशेषताओं के आधार पर कर्त्ता (कर्त्तावाचक उद्देश्य सहित) के निम्नलिखित भेद है :

१ वास्तविक व्यापार का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संतत कृदंत द्वारा व्यक्त होता है : *बालक जा रहा है।* साथ ही कर्तृवाची तथा करणवाची परसर्गों समेत नाम भी आते हैं : *बालक ने किताब पढी, हितमित्रों से दबाव डलवाया गया* (कामता सिंह), *यह किताब प्रेमचंद की लिखी है।*

इस श्रेणी में सांकेतिक वास्तविक व्यापार का कर्त्ता भी आता है जिसके विधेय के प्रकार्य में संकेतार्थ के पूर्ण एवं संतत रुप प्रयुक्त होते है : *यदि मैंने उसे घर से निकाल न दिया होता तो इस भाँति उसका पतन न होता* (प्रेमचंद), *अगर दूसरी कोई ट्रैन लखनऊ जा रही होती तो वह उसी दम लौट पड़ता* (अमृतलाल नागर)।

२. अनुमानित व्यापार का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित नाम आता है जो प्रक्रियावाचक पुरुषवाचक-लिंगसूचक कृदंत से व्यक्त होता है : *बालक आएगा।* विधेय के प्रकार्य में यहां सयोजक क्रिया समेत स्थायी गुणवाचक कृदंत या परसर्गसहित तुमर्थ भी प्रयुक्त हो सकते हैं : *बालक जाने वाला है, बालक जाने को है।*

३. संभाव्य व्यापार का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित नाम आता है जो पुरुषादिबोधक क्रिया द्वारा व्यक्त होता है : *बालक आए तो कितना अच्छा होता।*

४. प्रेरणादायक व्यापार का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम (मुख्यतः सर्वनाम) आता है जो आज्ञार्थ के रुपों द्वारा व्यक्त होता है : *तुम जाओ।*

५. प्रक्रियात्मक अवस्था का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता

है जो संयोजक क्रिया सहित/रहित अपूर्ण कृदंत द्वारा व्यक्त होता है : *बालक पढता है, बालक नहीं सोता।* यहां लाक्षणिक प्रयोग के कृदतरुप भी आते है . *घडी चलती है, बासुरी बजती है।*

इस श्रेणी में सांकेतिक प्रक्रियात्मक अवस्था का कर्त्ता भी आता है जिसका विधेय संकेतार्थ के सरल और अपूर्ण कृदंतरुपों द्वारा व्यक्त होता है · *तू मुझे मन से न चाहता होता, तो तू मूझे क्यों मारता?* (रांगेय राघव)

६. परिणामी अवस्था का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो अकर्मक क्रियाओं से बने पूर्ण कृदत द्वारा व्यक्त होता है : *बालक आया, बालक बोला।*

इस श्रेणी में सांकेतिक परिणामी अवस्था का कर्त्ता भी आता है जिसका विधेय संकेतार्थ के पूर्ण रुप द्वारा व्यक्त होता है . *मैं चला गया होता, मगर मुझे सावक की प्रतीक्षा थी* (मंटो)।

७. संप्रदानवाचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य द्वारा व्यक्त होता है : क) आवश्यकताबोधक द्विक्रियावाची. बालक को जाना पडा, ख) *"तुमर्थ + आना क्रिया"* द्विक्रियावाची : *बालक को तैरना आता है,* ग) संयोजक सहित मन : स्थिति अनुमानवाचक अर्थ रखने वाले विशेषण : *बालक को वहां जाना आवश्यक है,* घ) प्रभावन का अर्थ रखने वाले वाक्यगत उद्देश्य से संबंधित विधेय के प्रकार्य में प्रयुक्त *ह (होना)* क्रियारुप : *बालक को सेब पसंद है, बालक को यह जानकर खुशी हुई,* च) कुछ विशिष्ट अकर्मक क्रियाएं : *बालक को पत्र मिला, बालक को यह कपडा नहीं भाता।*

८. करणवाचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से सबंध्रित से परसर्गसहित नाम आता है जो भाववाच्य कृदंत द्वारा व्यक्त होता है : *किसी से पानी नहीं पिया गया* (प्रेमचंद), *बालक से सोया नहीं जाता।*

९ स्वामित्वसूचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित के पास, के यहां और के परसर्गो सहित नाम आता है जो *ह (होना)* स्थितिदर्शक क्रिया द्वारा व्यक्त होता है : *बालक के पास दो कापियां हैं, सीता के एक बच्ची थी।*

१०. स्थानसूचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित में परसर्गसहित सजीव (प्राणिवाचक) नाम आता है जो *ह (होना)* स्थितिदर्शक क्रिया द्वारा व्यक्त होता है : *बालक में हिम्मत नहीं, जानवरों में तो सहज ज्ञान होता है।*

११ अस्तित्वसूचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो *ह (होना)* स्थितिदर्शक क्रिया द्वारा व्यक्त होता है : *पिता जी घर में हैं, यहां बच्चों के लिए दूध भी नहीं है* (कृशन चंदर)। ऐसे वाक्यों में अनिवार्य संघटक के बतौर क्रियाविशेषक प्रयुक्त होते हैं।

१२. गुणधारी (गुणात्मक) कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संयोजक क्रिया सहित नामिक अंग द्वारा व्यक्त होता है : *आमदनी अच्छी थी* (यशपाल), *परदा बोरी के टाट का नहीं, बढ़िया किस्म का रहता* (यशपाल), *डाक्टर खुदा तो नहीं है* (राजेंद्र यादव), *तुम कौन चार बरस की नहीं हो* (अश्क)।

१३. निश्चित मात्रा का कर्त्ता (मात्रात्मक कर्त्ता) जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संयोजक सहित सांख्यांक द्वारा व्यक्त होता है : *बालक चार थे।*

१४. विशेषतादर्शक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संयोजक सहित संज्ञा द्वारा व्यक्त होता है : *बालक छात्र है, भेड़िया हिंसक पशु है, ताड़ सदाबहार पादप है।*

१५. सामाजिक या रिश्तेदार जैसे संबंधों का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संयोजक सहित नामिक अंग द्वारा व्यक्त होता है और नाम विशेष शब्दो द्वारा प्रकट होता है : *बालक मेरा भाई है, वे बालक हमारे रिश्तेदार हैं, राकेश बाबू इनका दोस्त है।*

जैसा कि उदाहरणों से विदित है, कर्त्तावाचक पदिमों की यह व्याख्या अन्य व्याकरणवेताओं द्वारा निर्धारित परंपरागत सीमाओं से बाहर जाती है जब कर्त्ता केवल परसर्गहीन रुपों या ने परसर्गसहित रुपों में परिसीमित होता था।

उल्लेखनीय है कि भारतीय वैयाकरण अंग्रेजी या रुसी वैज्ञानिकों के विपरीत कर्त्ता के प्रकार्य में प्रयुक्त शब्दरुपों का समूह विस्तृत करते हैं। गुरु जी ने कर्त्ता के निम्न रुपों का वर्णन किया है : *मुझे वहां जाना है, काजी को यह हुक्म देते बना, लड़के से चला नहीं जाता।* किशोरीदास वाजपेयी भी कर्त्ता की इस व्याख्या का समर्थन करते हैं।

विधेय का वर्णन भी भिन्न दृष्टि से करना चाहिए क्योंकि निश्चयार्थ में इसके प्रकार्य में पुरुषादिबोधक रुप प्रयुक्त नहीं होते। अतः आसाहि में पुरुषवाचक क्रियाओं द्वारा व्यक्त विधेय प्रधान नहीं होता क्योंकि यहां विधेय मुख्यतः कृदंत या नाम के रुप में आता है : *बालक पढ़ता है, बालक छात्र है, बालक पढ़ेगा।* इस कारण वास्तविक व्यापार के कर्त्ता का प्रयोग काफी सीमित होता है और आसाहि में अन्य शब्दार्थ कोटियों के कर्त्ता अग्रणी स्थान लेते है।

संतत कृदंतो के चलते भी जिनको भावायी प्रयोग के प्रभावस्वरूप उक्ति के क्षण में होने वाले व्यापार को व्यक्त करना होता है कर्त्ता (*कम से कम कालक्रमिक दृष्टि से*) परिणामी अवस्था का द्योतक होता है। (*वह*) जा रहा है का विधेय कालक्रमिक दृष्टि से निम्न अंगो में विभक्त होता है : *जाकर रहा है* यानी किसी विगत क्षण में जाना आरम्भ करके कोई जाना की स्थिति में होता है। *बाबू जी उस समय ऊपर कमरे में बैठे कुछ पढ़ रहे थे* (प्रेमचंद) जैसे वाक्य में विधेय का अर्थ यह है कि *बाबू जी* काल के क्षण से पहले पढ़ना आरंभ करके काली के क्षण में ही इसी स्थिति में है। कर्त्ता की इस परिणामी अवस्था को पूर्ण कृदंतरुप रहा इंगित करता है।

अतः आसाहि में विधेय का वर्गीकरण इसके अंगों की संरचनात्मक-अर्थपरक प्रकृति को देखकर करना चाहिए।

भारत की व्याकरणिक परंपरा से सहारा लेकर विधेय चार भेदों में विभक्त हो सकता है : १) तिङन्ती, २) कृदंती, ३) तिङन्ती (कृदंती-तिङन्ती) और ४) नामिक जिनमें कृदंती विधेय मुख्य है। भारतीय वैयाकरणों

के मतानुसार तिङन्ती रुप साध्य है, कृदंती रुप वास्तविक हैं और तिङन्ती-कृदंती रुप भी मुख्यत: वास्तविक हैं। इन सब रुपों का वृत्तित्व संयोजक क्रिया से प्रतिबंधित होता है।

संभावनार्थ के संश्लिष्ट रुप और आज्ञार्थ के रुप शुद्ध तिङन्ती हैं। भविष्यत् काल के संश्लिष्ट रुप जो संभावनार्थ के संश्ष्टि रुपों से ग मध्यप्रत्यय और लिंगसूचक अंत प्रत्यय जुड़ने से बनते हैं किशोरीदास वाजपेयी के मतानुसार संभावनार्थ की तुलना में अधिक निश्चितता व्यक्त करते हैं। तिस पर भी भविषयत् काल के रुप सप्रतिबंध वास्तविक व्यापार व्यक्त करते है।

आसाहि में संरचना के अनुसार विधेय तीन श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं . *सरल, संयुक्त और जटिल*।

पहली श्रेणी में ऐसे विधेय आते हैं जो संयोजक क्रिया सहित/रहित एक ही क्रियार्थक या नामिक अंग से बने होते है। दूसरी श्रेणी में वे विधेय आते हैं जो दो या अधिक क्रियार्थक या नामिक अंगों से बने होते हैं और जो स्थायी अर्थपरक-वाक्यगत इकाई गठित करते हैं। तीसरी श्रेणी में वे विधेय आते हैं जो स्वतंत्र या स्थायी शब्दबंधो (क्रियाबंधों) से बने होते है।

एक लेख में आसाहि में मिलने वाले विधेयों के सभी रुपों का विस्तृत वर्णन करना संभव नहीं है, अत: यहां सब से अधिक प्रचलित रुपों की व्याख्या की गयी है।

सरल विधेय निम्न उपश्रेणियों में बंट सकते हैं :

१) तिङन्ती जिनके भी अपने भेद हैं : क) शुद्ध कृदंती : *मैं आऊं*, ख) तिङन्ती-कृदंती : *मैं जाऊंगा (जाऊंगी)*।

२. कृदंती जिनके भी अपने भेद हैं : क) शुद्ध कृदंती : *वह आया, अगर वह आता , उसने कहा* और ख) कृदंती-संयोजक : *वह आता है, वह आया (हुआ)* था, *वह चाय पीता होता है, उसने खिड़की खोली (हुई) थी, ... जिसकी मूर्ति का वचन दल ने ..... जनता को दिया हुआ होता है* (बी.बी. चौधरी), *इस तरह लौट आऊंगा जैसे कुछ भी न हुआ हो* (राजेंद्र यादव), *तुमने बीस-एक पूरियां खायी होंगी* (प्रेमचंद), *तू मुझे मन से न चाहता होता, तो तू मुझे मारता क्यों?* (रांगेय राघव)।

३) नामिक जिनके भी अपने भेद हैं : क) शुद्ध नामिक : *आसमान साफ, खुला और नीला* (कृशन चंदर) और ख) नामिक-संयोजक : *तू कपूत है* (मोहन राकेश), *दर्शकों की भीड़ भी कम न थी* (जयशंकर प्रसाद), *प्रतिवर्ष कृषि का वह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता है* (जयशंकर प्रसाद)।

सरल कृदंती विधेय में कर्मवाच्य तथा भाववाच्य के रुप भी आते हैं जो पूर्ण कृदंत तथा जाना अर्थहीन क्रिया के रुपों के योग से बनते हैं : *मधुलिका बुलायी गयी* (जयशंकर प्रसाद), *मेरा सुख भगवान् से न देखा न गया* (प्रेमचंद), *मैं बुलाया गया हूं*। यहां पूर्ण कृदंत के स्थान पर पूर्ण क्रियाविशेषणात्मक कृदंत का प्रयोग भी हो सकता है : *वह..... फरिया पहने थी* (रांगेय राघव)।

अर्थ की दृष्टि से इस श्रेणी में संतत कृदंत के विधेय क्रियारुप भी आते हैं जो कालक्रमिक दृष्टि से अवधारण पक्ष के आधार पर उत्पन्न हुए थे तुलना कीजिये : *वह बैठ रही है* और (वह) *अज्ञात देवता के आगे रही* (मोहन राकेश)। और जो अर्थ और संरचना को लेकर इस पक्ष से संबंध रखते हैं। परन्तु संतत कृदत की इस क्षमता को ध्यान में रखते हुए कि यह कृदंत प्राकारिक कृदंतो की भाँति विशेषण के प्रकार्य में आ सकता है इसे सरल विधेय की श्रेणी में सम्मिलित करना उचित जान पडता है। इस कृदत के संबंध में यह भी कहा जा सकता है कि अर्थपरक तथा व्याकरणिक दृष्टि से इसके अर्थविकार की प्रक्रिया जारी रहती है और अब वह मुख्यत: उक्ति के क्षण में होने वाले व्यापार का अर्थ व्यक्त करता है। ऐसे में वह अपूर्ण कृदंत से भिन्न होता है क्योंकि अपूर्ण कृदंत दो प्रकार का व्यापार प्रकट करता है : उक्ति के क्षण में होने वाला और नियमित रुप से होने वाला व्यापार (*बालक स्कूल में जाता है का अर्थ है अब ही जा रहा है और नियमित तौर पर जाता है।*)

"नाम + होना क्रिया" का वह अखंड क्रियाबंध भी सरल विधेय में आता है जिसके शाब्दिक पूरक के प्रकार्य में व्याकरणिक लक्षणों रहित (यानी विव्याकरणिकीकृत) संज्ञा प्रयुक्त होती है . *पाठ शुरु हुआ।*

संयुक्त विधेय कृदंती-तिङन्ती, नामिक-तिङन्ती, नामिक-कृदंती और कृदंती-कृदंती में विभक्त होता है। कृदंती-तिङन्ती संयुक्त विधेय में वे अखंड क्रियाबंध आते हैं जिनका शब्दार्थ अंग कृदंत द्वारा और व्याकरणिक अंग पुरुषवाचक या पुरुषवाचक-लिंगसूचक क्रियारुप द्वारा व्यक्त होता है : *जयचंद्र जी ने परामर्श दिया कि मैं ...हथियारों का संग्रह बढ़ाता चलूं* (यशपाल), *...जिन्दगी भर मैं तुम्हारे लिए रोती रहूंगी* (कृशन चंदर), (यशपाल)।

नामिक-तिङन्ती संयुक्त विधेय में वे "नाम + होना क्रिया" अखंड क्रियाबंध आते हैं जिनके व्यापार के शाब्दिक पूरक विव्याकरणिकीकृत संज्ञाओं द्वारा व्यक्त होते हैं और करना क्रिया तिङन्ती या तिङन्ती-कृदंती रुप में प्रयुक्त होती है : *उसने कहा कि मैं सभा शुरु करुं, मैं आपकी बातें याद करुंगी।*

नामिक-कृदंती संयुक्त विधेय में उपरोक्त अखंड क्रियाबंध आते हैं जिनमें करना क्रिया (संयोजक सहित/रहित) कृदंत रुप में प्रयुक्त होती है : *मैंने पाठ शुरु किया, उसने अपनी भूल स्वीकार की थी।*

कृदंती-कृदंती संयुक्त विधेय में वे द्विक्रियावाची रचनाएं आती हैं जिनकी मुख्य रंजक क्रियाएं (संयोजक सहित/रहित) कृदंतरुप में प्रयुक्त होती हैं : *वह दिन भर रोती रही, पानी बढ़ता जाता है।*

संयुक्त विधेय में वे "क्रियार्थक नाम + रंजक क्रिया" द्विक्रियावाची रचनाएं आती हैं जो पौन: पुनिक पक्ष का अर्थ व्यक्त करती हैं : *वह हमारे यहां आया करती है।* रंजक क्रिया कृदंती या तिङन्ती रुपों में आ सकती है : *हमारे यहां आया करो।* जैसा कि उदाहरणों से विदित है क्रियार्थक नाम पूर्ण कृदंत का अविकारी (स्थिर) समरुप है।

संयुक्त विधेय में "धातुरुपी कृदंत + करना क्रिया" द्विक्रियावाची रचनाएं आती हैं जिनकी रंजक क्रिया (पक्षवाचक या वृत्तिवाचक) तिङन्ती या कृदंती रुपों में प्रयुक्त हो सकती हैं : *तुम चाहती हो कि मैं मर जाऊ*

(कृशन चंदर), *मैंने अपने दोस्त को एक किताब खरीद दी, आप हिन्दी में बोल सकते हैं?, पुलिस चोर को पकड न पायी।*

संयुक्त विधेय मे आवश्यकताबोधक संप्रदान वाचक रचनाए आती हैं जो कृदंतपर (विकारी) तुमर्थ और ह (होना) एवं पडना के क्रियारुपों और क्रियार्थक शब्द चाहिए के योग से बनती है . *बालक को जाना है (जाना पडा, जाना चाहिए)।*

द्विक्रियावाची रचनाओं और अखंड क्रियाबंधो में रंजक तथा सहायक (रुपसृजक) क्रियाएं न केवल सरल विधेय के रुप में आती हैं बल्कि वे वृत्तिवाचक एव पक्षवाचक सूचको के साथ जुटकर वृहद् संयुक्त विधेय बनाती हैं *मैं सभा शुरु कर सकुं?, मैंने अपनी भूल स्वीकार कर ली, वह...बही चली जा रही होगी* (रांगेय राघव)।

निरपेक्ष अखंड क्रियाबंध (यानी पूर्णतः विव्याकरणिकीकृत नाम सहित क्रियाबंध) और द्विक्रियावाची वृत्तिवाचक या पक्षवाचक रचनाएं संयुक्त विधेय में इसलिए सम्मिलित की जा सकती हैं कि वे रचना के दो केंद्रो (शाब्दिक और व्याकरणिक) के बावजूद स्वतंत्र क्रियाप्रधान शब्दबंध को नहीं बनाती क्योंकि वे एक ही एकीकृत वस्तुवाचक अर्थ रखती हैं और एक ही विचार या धारणा व्यक्त करती हैं। अर्थ की दृष्टि से वे स्पष्टतः दो या अधिक अगों से बनी होती हैं। साथ ही संजक रंजक या सहायक क्रियाएं प्रायः सदा ही अपना वस्तुपरक अर्थ, जो बचा-खुचा भी हो सकता हैं, सुरक्षित रखती है। अपवाद के तौर पर यहां जाना रंजक क्रिया आती है जो कुछ रचनाओं में अपना वस्तुपरक अर्थ पूर्णतः खासेकर व्यापार के समापन के शुद्ध सूचक के प्रकार्य में प्रयुक्त होती हैं . *हम आ गये, मुझे किताब मिल गयी।*

जटिल विधेय भी नामिक-तिङन्ती, नामिक-कृदंती, तिङन्ती-तिङन्ती, तिङन्ती-कृदंती और कृदंती-कृदंती में विभक्त होता है।

नामिक-तिङन्ती जटिल विधेय में "विशेषण (क्रियाविशेषण) + करना क्रिया" वाक्यविन्यासोत्तर रचनाएं आती हैं जिनमें विशेषण (क्रियाविशेषण) उस व्यापार के शाब्दिक पूरक बन जाते हैं जो करना क्रिया के पुरुषादिबोधक रुपों द्वारा प्रकट होता है : *बिस्तर गोल कर दो* (मंटो), *मैं फिर खुदा से दुआ करती हूं कि वह हमारे दिलों को अपनी रोशनी करे* (प्रेमचंद), *यह सूटकेस पीछे करो।*

नामिक-कृदंती जटिल विधेय उपरोक्त वाक्यविन्यासोत्तर रचनाओं के आधार पर बनता है जिनमे करना क्रिया संयोजक सहित/रहित कृदंतरुप में आती हैं : *बालों को उसने पीछे किया* (जैनंद्र कुमार), *संविधान ने संघात्मक शासन स्थापित किया* (बाबूलाल वर्मा)। करना क्रिया दो विशेषणों द्वारा विस्तृत हो सकती है . संसद ने युद्ध को अवैध घोषित किया।

करना क्रिया के अतिरिक्त *बनना, रहना, पड़ना, निकलना, दीखना* और कुछ दूसरी अर्द्धसंयोजक क्रियाएं इस प्रकार का जटिल विधेय गठित करती हैं : *महेंद्र पत्नी का गुलाम बना है* (गुरुदत्त), परन्तु *वह तो निर्लज्ज निकला है* (गुरुदत्त), *वह सदा चुप रहेगी, वह प्रसन्न दीखता है, तुम मुझे अच्छा आदमी दिखाई देते*

हो।

आदि-अंतसूचक, वृत्तिवाचक तथा कुछ दूसरी क्रियाओं के साथ, जो अपना अर्थ सुरक्षित रखती हैं, तुमर्थ या सुपाइन के योग के आधार पर जटिल विधेय बनता है जिसका तिङन्ती-तिङन्ती या तिङन्ती-कृदंती रुप इन क्रियाओं के समापक रुप पर निर्भर होता है।

आदि-अंतसूचक क्रियाओं में व्यापार के आरंभ या अंत को सूचित करने वाली क्रियाए और निरपेक्ष असंड क्रियाबंध काफी प्रचलित होते हैं, जैसे क) तिङन्ती-तिङन्ती विधेय *चिल्लाना खत्म कर दो, पढना शुरु करुं?*, ख) तिङन्ती-कृदंती विधेय : *उसने सिगरेट पीना छोड दिया, लडकी खाने लगी, फल गिरने शुरु हुए*। जैसा कि उदाहरणों से विदित है, यहां संज्ञापरक तथा कृदतपरक तुमर्थ आ सकता है।

वृत्तिवाचक क्रियाओं में *चाहना, मांगना, जानना, पाना, देना, सीखना, सिखाना* जैसी क्रियाए और *स्वीकार करना, तय करना* जैसे निरपेक्ष असंड क्रियाबंध काफी प्रचलित होते हैं जो निम्न विधेय गठित करते हैं : क) तिङन्ती-तिङन्ती : *हम वहां कल सुबह को जाना चाहेंगे, मैं वहां जाना स्वीकार करु या न करुं, इससे कुछ नहीं बदलेगा, मुझे पत्र लिखना न भूलना*, ख) तिङन्ती-कृदंती : *उसने मुझसे बातें करनी नहीं चाही, तुफान के कारण मैं घर से निकलने न पाया, तुम तैरना जानती हो, हमने वहां जाना स्वीकार किया, दोपहर होने को आयी* (प्रेमचंद)।

जैसा कि उदाहरणों से विदित है, यहां आश्रित अंग (संघटक) की हैसियत से संज्ञापरक एव कृदतपरक तुमर्थ तथा सुपाइन आ सकते हैं। संज्ञापरक तुमर्थ परसर्गसहित प्रयुक्त हो सकता हैं। यही नहीं, तुमर्थ पक्षवाचक द्विक्रियावाची रचना में विस्तृत हो सकता है : *सेठ जी उसे खिलाते जाना चाहता था* (अश्क), *मैं सडक पर चलते रहना चाहता हूं* (प्रेमचंद)। मुख्य क्रिया भी विस्तृत हो सकती है . *उसे सुरक्षित लौटने दिया जा सकता है* (चतुरसेन शास्त्री)।

तिङन्ती-तिङन्ती जटिल विधेय सुपाइन और जा रहा वेत्तिवाचक क्रियारुप के योग से बनता है *यहा दावत कल होने जा रही थी* (शानी), *वह कुछ बोलने जा रहा होगा*।

तिङन्ती-तिङन्ती और तिङन्ती-कृदंती जटिल विधेय में और को परसर्गो सहित देखना एवं सुनना के विकारी तुमर्थरुपों और और आना एवं मिलना के समापक क्रियारुपों क योग से बनता है। आना और मिलना के समापक रुप यहां वृत्तिवाचक अर्थ रखते हैं · *यह बात सुनने में आयी, यह नृत्य वर्तमान में देखने को मिल रहा है* (हिन्दुस्तान)।

कृदंती-कृदंती जटिल विधेय द्विक्रियावाची रचना के आधार पर बनता है। इसका बायें (मुख्य शाब्दिक) अंग के प्रकार्य में अपूर्ण एवं पूर्ण कृदंत आते हैं। रचना का दायां (समापक) अंग भी मुख्यत. कृदंत के रुप में प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार का जटिल विधेय उपरोक्त कृदंतों और वृत्तिवाचक छाया देने वाली लगना, दिखाई देना

(पडना), *दीखना, नजर आना* तथा अन्य इस प्रकार की क्रियाओं और *अनुभव (महसूस)* करना (होना) जैसे क्रियाबंधो के योग से बनता है : *मेरी जिम्मेदारी खत्म नहीं होती लगती है* (पहाडी), *बांके आया लगता है* (रांगेय राघव), *लाला साहब पक्के कृषक होते दिखाई देते हैं* (प्रेमचंद), सरनो अपने शरीर से गरमी सी निकलती अनुभव हो रही थी (बलवंत सिह), *सूर्य उदय हुआ मालूम होता था* (प्रेमचंद)।

इस जटिल विधेय से दिखने में समरुप रचनाओं को भिन्न करना आवश्यक है जिनमें दिखाई देना, नजर आना क्रियाएं, देखने में आना के अर्थ में प्रयुक्त होती हैं : उदाहरणार्थ, नन्दालाल की मां बाहर से आती दिखाई दी जैसे वाक्यों में सरल या सयुक्त विधेय ही आता है जो कृदंत से विस्तृत है। यह कृदंत विधेय से अलग प्रयुक्त हो सकता है . *बाहर से आती नन्दालाल की मां दिखाई दी*। जटिल विधेय का कृदंत अंग अलग नहीं आ सकता। यही नहीं, जटिल विधेय के आधार पर दो वाक्य बन सकते हैं : लगता है (कि) बांके आया।

इस प्रकार का जटिल विधेय अपूर्ण क्रियाविशेषणात्मक कृदंत और *डरना, झेंपना, शर्माना, थकना* तथा कुछ और भावात्मक व्यापार व्यक्त करने वाली क्रियाओं के योग से भी बनता है *सदन उसके सामने उसके सामने पुस्तक खोलते डरता है* (प्रेमचंद), *वह ऐसी छोटी भेंट देते हुए झेंपता था* (प्रेमचंद), *मैं यह रटते-रटते थक गया*।

ऐसी ही जटिल विधेय उपरोक्त कृदंत और बचना क्रिया के योग से बनता है जिसमें बचना क्रिया सूचित करती है कि व्यापार सम्पन्न होते होते समाप्त न हो पाया . *मैं गिरते गिरते बचा*।

कृदंती-कृदंती जटिल विधेय में वे द्विक्रियावाची रचनाएं आती हैं जो अपूर्ण कृदंत, पूर्ण क्रियाविशेषणात्मक कृदंत एवं पूर्वकालिक कृदंत और समापक क्रियारुपों के योग से बनती हैं। यह रहना क्रिया अपना वस्तुपरक अर्थ सुरक्षित रखते हुए पक्षवाचक और रंजक अर्थ भी व्यक्त करती है . मैं कॉपता रह गया, किरण देखती रह गयी (प्रेमचंद), *शंकरदत्त सहमकर रह गया* (शानी), *मैं यह जाने बिना न रहूंगा*। यहां अपूर्ण कृदंत की जगह पूर्ण कृदत आ सकता है *उसकी आंखे फटी रह गयी*।

आसाहि में वाक्यगत संरचना की विशेषता यह है कि यहां तथाकथित अंशत: कर्त्ता और अंशत. विधेय का प्रयोग होता है जो वाक्य में मिलता है जहां मुख्य कर्त्ता (उद्देश्य) के अतिरिक्त सहायक कर्त्ता या उद्देश्य आते हैं।

अंशत: कर्त्ता निम्न रुपों में प्रयुक्त हो सकता है :

१) परसर्गहीन प्रत्यक्ष रुप में जो वाक्य के कर्त्तावाचक उद्देश्य के रुप के समान हो सकता है . *हमने हिन्दी के रिकार्ड बजते सुने* (यशपाल जैन), *थोडी देर हुई लौटा हूं* (प्रेमचंद), *आज मुझे तेरा सुर बदला लगा हुआ लगता है* (रांगेय राघव), *.असेम्बली खुलते ही यह बिल पेश करुंगा* (प्रेमचंद), *लाश उठाते उठाते रात हो जाएगी* (राजेंद्र यादव)। जैसे कि उदाहरणों से विदित है, अंशत: विधेय अंशत: कर्त्ता के साथ या तो नियमानुसार समन्वित हो सकता है या अविकारी क्रियाविशेषणात्मक कृदंत के रुप में आ सकता है।

२)   *को, के,* से परसर्गो समेत तिर्यक् रुपों में : *मां को गये छः महीने के ऊपर हो गए हैं, जीजी को बुढ़ी कैलासी के साथ रहते हुए एक साल बीत गया* (प्रेमचंद), *हम लोगो के उतरते उतरते एक रुसी सज्जन आ गए* (यशपाल जैन), *बाप के मरते अपने यार को कहीं से उठा कर ले आयी है* (कृशन चंदर), *ब्रजनाथ से कोई जवाब देते न बन पड़ा* (प्रेमचंद), *साले और ससुर से जो भी करते बना उन्होंने किया* (बी पी गुप्ता)। जैसा कि उदाहरणों से विदित है, अंशतः विधेय यहां अविकारी कृदंत के रुप में आता है।

विस्तृत वाक्य के स्तर पर कर्त्ता और विधेय आश्रित विस्तारकों द्वारा विस्तृत हो सकते है जो एक स्वतंत्र विश्लेषण की बात है।

यही है आसाहि में कर्त्ता और विधेय की अभिव्यक्ति के प्रकार जो इनके अर्थपरकवाक्यगत अर्थ पर आधारित होता है।

जाम्भाणी साहित्य में परमतत्व की अवधारणा

डा0 किशनाराम विश्नोई

विश्नोई सम्प्रदाय के सस्थापक भगवान जम्भेश्वर जी की एक विशिष्ट और समृद्ध शिष्य-परम्परा रही है, जिनमें मुख्य रुप से वीलहोजी, केसौजी, सुरजन जी पुनिया, गोकल जी, ऊदौजी, सेवाराम, मुकनोजी, नाथोजी, रेडोजी, साहबराम राहड़ आदि हैं। उनकी कुल शिष्यों-प्रशिष्यों की संख्या १२९ है। जाम्भाणी साहित्यकारों के अनेक हस्तलिखित ग्रथ अप्रकाशित हैं। इन अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रथो की सख्या लगभग ४०३ है। जो विभिन्न साथरियों, भण्डारों, मदिरों, गायणों, थापनों एवं पुरातत्व विभाग के पास उपलब्ध हैं यदि इन सम्पूर्ण हस्तलिखित ग्रंथों को एकत्रित करके उन पर अनुसधान किया जाये तो भारतीय संत साहित्य का स्वरुप ही बदल जायेगा।

जाम्भाणी साहित्य में मानव मूल्यों की मीमांसा चहुंमुखी रुप से हुई है, जिनमें क्षमा, दया, धैर्य, अपरिग्रह, सतोष, शील, संयम, अहिंसा, परोपकार, नैतिकता, ईमानदारी, सादगी, सात्विकता, सच्चाई और परिवेश शुद्धता आदि मूल्यों का समावेश हुआ है। मानव मूल्यों के साथ ही जाम्भाणी साहित्यकारों ने परम तत्व (निर्गुण विष्णु) के नाम स्मरण (जप) पर अत्यधिक बल दिया है उन्होंने निर्गुण विष्णु को ही परमतत्व का प्रतीक माना है। सम्पूर्ण जाम्भाणी संत निर्गुण विष्णु और जम्भेश्वर जी को एक ही मानते हैं, यह उनकी साहित्य साधना का मूल सारतत्व है उनकी रचना प्रक्रिया और मूल्यान्वेषण और प्रतिष्ठा की विशिष्ट प्रक्रिया मानने वाले रचनाकारों और जाम्भाणी संतों की बीच मूल्य निर्धारण के सवाल पर तो मतभेद रहे ही हैं परन्तु परम तत्व के निर्धारण करते समय आपसी मतभेद परस्पर समाप्त हो जाते हैं। वे कौन से मूल्य हैं, जो चरम या परम मूल्यों में अन्तर्निहित हैं। जिनकी साधारणतया साहित्य खोज करता है और इसमें चरम या परम मूल्य का सवाल भी शामिल है। जिनकी साहित्य तलाश या प्रतिष्ठा करता है। मूल्यों में उतार-चढाव क्रम भी व अनुसंधान की सुविधा के लिए स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि अंतत परम मूल्य से तारतम्य ही किसी अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी के मूल्य को भी सिद्ध करता है। अर्थ और काम तभी मूल्य है जब वे धर्म से अनुप्राणित और मुक्ति प्राप्ति की ओर अग्रसर हो। धर्म भी मूल्य तभी है जब वह मोक्ष की साधना का माध्यम है। इसलिए चतुर्वर्ग के पुरुषार्थ के सिद्धांत को मानने वालों के लिए परमार्थ मोक्ष ही है। अन्य त्रिवर्ग यदि मूल्य है तो इसलिए कि वे मोक्ष की साधना में सहायक हैं। परमार्थ और व्यवहार में भेद तो है पर यह अपेक्षा की जाती है कि व्यवहार परमार्थ से अनुप्रेरित और उसकी ओर ले जाने वाला होगा- इसके विपरित दिशा में ले जाने वाला तो नहीं हो सकता।

साधारणतया जब चरम मूल्य या परमार्थ वृत्ति की चर्चा की जाती है तो मोक्ष या उससे मिलती-जुलती कोई आध्यात्मिक अवधाणा निर्वाण, कैवल्य आदि ही ध्यान में आती है। लेकिन जैसा कि हम जानते हैं दर्शन

में इन गूढ़ प्रश्नों पर मतैक्य नहीं है। एक वर्ग उन भौतिकवादी दार्शनिकों का भी है जो उपर्युक्त प्रकार की किसी की अवधाणा को एक भ्रम या छलावा और कुछ लोग तो मीठा जहर तक मानते है। स्पष्ट है कि उनके लिए चरम मूल्य का अर्थ कुछ भिन्न ही होगा। इनमें से कोई स्वतंत्रता को चरम मूल्य के रुप में स्वीकार करतें हैं तो कोई समानता की। कुछ लोगों के लिए इन मूल्यों से भी ज्यादा महत्व इस बात का है कि इन साधनों के द्वारा इन मूल्यों की प्रतिष्ठा की जाती है। साधन और साध्य के एकत्व के सिद्धांत में आस्था रखने वालों के लिए साध्य मूल्य का साधन मूल्य में प्रतिफलित होना आवश्यक है। इसी तरह प्राकृतिक विज्ञानों को ही ज्ञान का अंतिम प्रमाण मानकर उनमें नीति-निरपेक्ष आशा रखने वालों के लिए शक्ति ही मूल्य है। संघर्षशील युग में शक्ति ही परम मूल्य है। तथा उस शक्ति के विभिन्न चरम मूल्यों का संग्रह ही आज के भौतिकवादी युग में बहुउपयोगी है।

इसी प्रकार अखिल भारतीय साहित्य की भाँति जाम्भाणी संत संस्कृति में किसी न किसी परम मूल्य की प्रतिष्ठा का अथक प्रयास किया गया है। प्रख्यात संत शिरोमणि साहबराम राहड ने अपनी विख्यात आख्यान काव्य जम्भसार में शब्द को ही ब्रह्म मानकर उसके द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति का सहजपथ बताया है। यह साधना न केवल अपने लिए बल्कि सम्पूर्ण लोक मानस के लिए संत सुरजनदास पुनिया भी युक्ति-युक्त जीवन पद्धति के लिए मुक्ति की अवधाणा को स्वीकार करते हैं। उनकी अनेक रचनाओं में काव्य को ही सबसे बडा धर्मशास्त्र माना है। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का मूल प्रतिपाद्य विषय आध्यात्मिकता ही है। लेकिन दूसरी ओर कुछ पाश्चात्य विचारक और भौतिकवादी लेखक साहित्य का केन्द्रीय सरोकार स्वतंत्रता को मानते हैं और निश्चय ही यह स्वतन्त्रता और आध्यात्मवादियों की मुक्ति बिल्कुल अलग है। मार्क्सवादी लेखकों की मुक्ति बिल्कुल अलग है। मार्क्सवादी लेखकों की दृष्टि में साहित्यसाधना का परममूल्य इतिहास ही है। और इसलिए उसकी सार्थकता वर्ग संघर्ष की धारा को तीव्र करने में सहायक है। एक निश्चित उद्देश्य विशेष का समर्थन करना है। इसी से राष्ट्रवादी, प्रगतिवादी, जनवादी या दलित साहित्य आदि विशेष रुप से प्रचलन में आते हैं।

वस्तुतः हम जानते हैं कि इन मूल्यों को लेकर रचनाकारों और दार्शनिकों में किसी प्रकार का मतैक्य नहीं है। हम कह सकते हैं कि वह संभव नहीं है। लेकिन आखिरकार साहित्य किसे परम मूल्य माने? कहा जा सकता है कि यह साहित्यकार विशेष पर निर्भर करता है कि वह अपनी रचना में किस परम मूल्य को प्रतिष्ठित करता है और हम पाते हैं कि भिन्न-भिन्न जाम्भाणी साहित्यकारों की दृष्टि भिन्न-भिन्न रही है और उसी के अनुसार उन्होंने साहित्य परस्पर विरोधी मूल्यों की प्रतिष्ठा का निरपेक्ष माध्यम मात्र है तो वह स्वयं मूल्यान्वेषण का अधिकारी नहीं कहा जा सकता। तब अधिक से अधिक वह अन्यत्र सिद्ध मूल्यों को समाज के लिए अधिक ग्राह्य बनाने का साधन मात्र रह जाता है। स्पष्ट में कहें तो वह विद्या नहीं रहती, प्रचार की एक विधा हो जाती है।

इसलिए साहित्य यदि मूल्यान्वेषण की एक विशिष्ट प्रक्रिया है तो उसके परम मूल्य की तलाश भी उससे

बाहर किसी अन्य दर्शन, राजनीति या विज्ञान या समाजशास्त्र में नहीं बल्कि उसके अन्दर ही करनी होगी- उसके अपने स्वरुप और प्रक्रिया में फिर इससे भी कोई अन्तर नहीं पड़ेगा कि साहित्यकार विशेष की अपनी दृष्टि या विचारधारा क्या है? जाम्भाणी साहित्य-परम्परा में धार्मिक शिक्षा की एक सम्प्रेषण प्रक्रिया के रुप में देखते हुए उसको दो प्रकार के भागों में विभाजित कर दिया है। एक तो शाश्वत मूल्यों को ग्रहण करने और उनका जीवन में क्रियान्वित करने का उपदेश देता है। परन्तु उन सनातनी व शाश्वत मूल्यों को हम जीवन में कितना उतारते हैं यह तो हमें सोचना हैं। मात्र उपेदश देना तो बहुत सरल है परन्तु उन पर चलना अत्यन्त कठिन है। दूसरे वे मूल्य जो मानवता की भावना से प्रत्यक्ष सम्प्रेषण रखते हैं। मूल्य सम्प्रेषण के स्तर पर वही प्रभावी होते हैं जो रचनाकार की रचना-प्रक्रिया पर लागू होते हैं। इसलिए शाश्वत मूल्यों को ही वास्तविक मूल्यों के रुप में स्वीकारा जाए। वास्तविक मूल्य वह है जो रचना की अपनी प्रक्रिया से प्रसूत होते हैं। इसलिए एक ही विद्या के रुप में साहित्य द्वारा परम मूल्य की तलाश का सवाल किन्हीं अन्य जरुरतों या विधाओं से तो क्या साहित्यकार की अपनी दृष्टि तक से नहीं जुड़ा है वह जुड़ा है साहित्य के अपने स्वरुप और गुणों से।

साहित्य को लेकर की जाने वाली अनंत चर्चाओं में इस सामान्य कथन को निर्विवाद स्वीकृति मिलती है कि वह रचना है, सृजन है। यदि हम इस बहस में नहीं पड़े कि उसका प्राथमिक स्रोत वस्तु जगत में है या भाव जगत में। या कि सामाजिक दबाव से पैदा होता है या अपने ही पूर्व रुपों में उसका विकास होता है तब भी वह वहीं नहीं रहती, एक नया रुप बदल लेती है।

साहित्य और कला को देखने, परखने उनकी समीक्षा करने की एक विशेष पद्धति भी होती है जो उचित ही है। क्योंकि कला में देखना या जानना रचने से भिन्न नहीं है। साहित्य रचते हुए सृजन करते हुए उसको जानना है जाने हुए को रचना नहीं। तभी तो वह अन्वेषण है इसलिए भारतीय कला की दृष्टि में दिदृक्षा सिसृक्षा सहजात है बल्कि कह सकते हैं कि एक ही है। ग्रीक में कला के लिए "टैक्नी" शब्द का प्रयोग किया जाता है। उसका मूल अर्थ जानने का तरीका है। आज हम इस शब्द का प्रयोग करने के तरीके के रुप में करते हैं। जानने की प्रक्रिया ही तो फिर करने की ओर कुछ आगे बढ़कर कहें तो होने की प्रक्रिया हो जाती है।

लेकिन वह क्या है जिसे साहित्य में जाना या रचा जाता है? वह क्या है जो साहित्य के माध्यम से अपने होने को संभव करता है? साहित्य और कलाओं को अनुभूति की अभिव्यक्ति कहा गया है। जाम्भाणी साहित्य में प्रत्येक अनुभूति आत्मानुभूति और स्वानुभूति है तो अनुभूति की प्रत्येक अभिव्यक्ति आत्माभिव्यक्ति है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि साहित्य या कला में किसी भी अभिव्यक्ति रुप की सृजना मूलत: और अंतत: आत्म-सृजन है। लेखकीय चेतना विभिन्न रुपों में अपना ही सृजन करती है बल्कि कह सकते है कि इस आत्म सृजन के माध्यम से ही वह अपने को जान पाती है। साहित्य अनिवार्यत: रुप है, इसलिए कह सकते हैं कि उसके सभी रुप आत्म के ही रुप हैं। इसलिए साहित्य जाम्भाणी साहित्य नित नये रुपों की सृजन के माध्यम से एक सनातन या शाश्वत रुपातीत आत्म की पहचान के साधना हो जाता है।

यह मात्र लेखकीय साधना नहीं है। साहित्य रचना भी है, साथ ही संप्रेषण भी बल्कि रचनात्मक सम्प्रेषण क्योंकि साहित्य का गृहीता या पाठक आवश्यक तौर पर रचना को लेखक के मन्तव्य के अनुकूल ही ग्रहण नहीं करता। इस ग्रहण या उपार्जन प्रक्रिया में उस के अपने चित की सांझेदारी भी होती है। और उसका गुप्त या अन्तर्निहित या वास्तविक प्रयोजन रचना के माध्यम से रचनाकार को नहीं बल्कि अपने को जानना होता है। इसलिए रचना, जो एक आत्मसर्जना या आत्माभिव्यक्ति है, गृहीता के लिए आत्मानुभूति में रुपांतरित हो जाती है। रचना के माध्यम से गृहीता अपनी ही एक नई अनुभूति संभव करता है। यही उनकी आत्मसर्जना है। भिन्न-भिन्न प्रकार के रचना रुप ग्रहीता को उसके वास्तविक रुपातीत या शाश्वत आत्म के भिन्न-भिन्न रुपों से साक्षात्कार करवातें हैं। इसलिए रचना के घोषित उद्देश्य कुछ भी हो उसका वास्तविक प्रक्रियागत उद्देश्य आत्म सृजन के माध्यम से आत्म की अनुभूति है। कोई अध्यात्मवादी कह सकता है कि अनंत रुपों की सृष्टि के माध्यम से परम चेतना अंतत अपने होने की अनुभूति ही तो करती है। लेकिन जाम्भाणी आध्यात्मिक पदावली के प्रयोग से उत्पन्न आशंकाएं या आपत्तियों के निराकरण के लिए इसे दरकिनार कर सीधे यही पूछा जाना चाहिये कि क्या उपर्युक्त विश्लेषण साहित्य के परम मूल्य या परमार्थ को जानने में हमारी सहायता करता है? क्या है अंततः साहित्य का अपना परम मूल्य? जाम्भाणी साहित्य में ऐसे अनेक कथन या टिप्पणिया आयी हैं जो धर्मशास्त्र के कथनों और आगम-निगम से सर्वथा संगत रखती हैं। उसमें चाहे वेद हो या उपनिषद, गीता हो या महाभारत, रामायण हो या बाईबल, कुरान शरिफ हो या अवेस्ता, सभी ने किसी भी वस्तु का मूल ही उसके सारतत्व को ही स्वीकार किया है। साहित्य का मूल सिसृक्षा है और उसकी सम्पूर्ण रचना प्रक्रिया सृजनात्मक है, इसलिए निर्विवाद रुप से कहा जा सकता है कि साहित्य की अपनी रचना-प्रक्रिया से प्रसूत परम मूल्य सृजनात्मकता है न केवल लेखकीय दृष्टि से बल्कि गृहीता के पक्ष से भी। इसलिए लेखक-पाठक का पाठ-पाठक संबंध मूलतः एक सृजनात्मक संबंध होने की वजह से सृजनात्मकता को ही परम मूल्य के रुप में प्रतिष्ठित करते हैं साहित्य की रचनात्मकता और सम्प्रेषणात्मक प्रक्रियाएं इसी सृजनात्मकता के विविध रुपों और आयामों का अन्वेषण है। और यही सृजनात्मकता है अपने होने की अनुभूति और उसके मूल स्रोत की निरन्तर तलाश। यह सृजनशील चेतना ही शाश्वत रुपातीत आत्मा है जो भिन्न-भिन्न रुपों मे निरन्तर अपने को अभिव्यक्त करता है तभी तो रचनाकार कह पाता है कि रुपों में एक अरुप सदा खिलता है, गोचर में एक अगोचर व्यक्त में एक अव्यक्त सता में एक परमसता, सत में एक असत विद्या में एक अविद्या।

लेकिन शाश्वत या रुपातीत जैसी पदावली फिर कुछ संशय या भ्रांति उत्पन्न कर सकती है कि इसमें इतिहास या समय का समन्वय नहीं बैठता है। निश्चय ही जब हम शाश्वत या रुपातीत जैसे पदों का प्रयोग करते हैं तो समय और रुप के अतिक्रमण का मंतव्य तो रहता है लेकिन समय या रुप का बहिष्कार नहीं है। यहां शाश्वत का अर्थ समय के बाहर नहीं है क्योंकि यदि शाश्वत है समय के भीतर भी है। समय के भीतर भी नहीं है। साहित्य और कलाओं की अपनी विशिष्टता है कि यहां नश्वरता के भीतर की अभिव्यक्ति होती है, रुप में

रुपातीत झलकता होता है। इसलिए शाश्वत आत्म की खोज में लगे साहित्य का इस नश्वर जीवन के साथ इस इतिहास और समय के साथ गहरा सबंध है क्योंकि यही उसकी रचना सामग्री है जिससे वह शाश्वत ओर रुपातीत को रुपायित करता है। साहित्य हिकमत है जो नश्वर जीवन को भी अपनी सृजनात्मकता से शाश्वत में रुपांतरित कर देता है। सच तो यह है कि समय के भीतर हो सकने पर ही इस सृजनात्मकता का शाश्वत होना, परम मूल्य होना सिद्ध होता है। इसलिए जिसे हम उत्कृष्ट या कलासिक्ल साहित्य कहते हैं उसमें इस नश्वर जीवन और उसकी विविध ध्वनियों के प्रति ही नहीं, उसकी दुर्बलताओं, आकांक्षाओं और असफलताओं के प्रति भी गहरा लगाव मिलता है। यह लगाव वस्तुत: दुर्बलताओं या असफलताओं के लिए नहीं होता। साहित्य में वर्णित दुर्बलताएं या असफलताएं भी प्रकारांतर से अंतत मानवी य सृजनशीलता के प्रति हमारे लगाव को ही उत्प्रेरित करती हैं जैसे दुखांति का अच्छे का पराभव बताते हुए भी अतत: अच्छे के प्रति हम में एक सहानुभूति पैदा करती है इसलिए साहित्य की घोषित विषय वस्तु या मूल्य कुछ भी हो, उसकी वास्तविकता या गुरुतत्व वस्तु अथवा मूल्य उसकी प्रक्रिया में ही अन्वेषित और प्रतिष्ठित होता है। वही उसका परम मूल्य या परमतत्व है और उसके सभी घोषित मूल्य उच्चावच क्रम में उस से न केवल हीन रहते हैं बल्कि वास्तविक अर्थो में साहित्य को प्रस्तुत मूल्य होने की हैसियत भी तभी प्राप्त करते हैं जब वे इस परमार्थ से, परम मूल्य से प्रेरित और उसकी सिद्धि के लिए उन्मुख हो।

लेकिन जब हम सृजनात्मकता की चरम मूल्य के रुप में बात करते हैं, तो उसके सहजात गुणों स्वतंत्रता और अहं के प्रति लिए विलयन की भी अनदेखी नहीं की जा सकती।

व्याख्याता,

गुरु जम्भेश्वर महाराज,

धार्मिक अध्ययन संस्थान, हिसार

योगदर्शन के व्यासभाष्य में पुरुष तथा पुरुषविशेष का स्थान

डा0 सूनृता विद्यालंकार

पुरुष का निरुपण

योगशास्त्र के मुख्यतः दो ही प्रमेय हैं जड प्रकृति एवं चेतन पुरुष। पुरुष निर्गुण, विवेकी, असाधारण, चेतन एवं अपरिणामी तत्व है। वह न प्रकृति है न विकृति, कार्य कारण से रहित है। इन्हीं सभी गुणों से विभूषित तत्व को योगशास्त्र में 'पुरुष' का नाम दिया गया है। यह पुरुष शुद्ध, बुद्ध, एव मुक्त है। न्याय दर्शन की भांति ज्ञानादि का आश्रय नहीं है अपितु स्वरुप भूतात्मक ही है। इतना सब होते हुए भी पुरुष अज्ञानवशात् इस संसार में आकर, अहंकार के वशीभूत होकर, चित्त के ज्ञानादि धर्मों का अपने में आरोपण करके भोक्ता कहलाता है। जन्म जन्मांतर में इसी अहंभाव के वश में होकर जन्म एवं मृत्यु के चक्र में फंस जाता है।

आत्मा का स्वरुप निर्धारण करने से पूर्व इस आत्म तत्व को मानने में क्या युक्ति है? इस पर कुछ *गम्भीरता से विचार करना अत्यावश्यक है*। चित्त ही जब ज्ञान सुखेच्छादि का आश्रय है तब वही भोक्ता एव कर्त्ता क्यों नहीं मान लिया जाए? तथा अपरिणामी पुरुष को मानने में क्या युक्ति? इन प्रश्नों का उत्तर सूत्रकार एवं भाष्यकार ने बडी गम्भीरता से मनन चिन्तन के बाद दिया है तथा क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन कर, पुरुषतत्त्व की चितादि निरपेक्ष स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की है।

पुरुषतत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता

सर्वप्रथम चित्त एवं पुरुष को एक मानने में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि चित्त परिणामशील है उसका वृत्यात्मक परिणाम निरन्तर जारी रहता है। चित्त परिणामी है इसमें क्या प्रमाण हो सकता है? इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि चित्त के सामने विषय उपस्थित होने पर कभी ज्ञात रहता है और कभी अज्ञात। जब चित्त का विषयाकारेण परिणाम होता है तब वस्तु ज्ञात होती है और जब परिणाम नहीं होता है तब वस्तु अज्ञात रहेगी। इससे सिद्ध हो गया कि चित्त का परिणाम है। इसी परिणामशील स्वभाव के कारण वस्तु कभी ज्ञात एवं कभी अज्ञात रहती है।[1]

इस प्रसंग में भाष्यकार ने एक उदाहरण उपस्थित किया है[2] कि विषय अयस्कान्तमणि के सदृश होते हैं। ये विषय लोहे के समान चित्त को अपनी तरफ खींचकर अपने आकार से आकारित कर देते हैं। इसी विषयकारता को ही चित्त का 'उपराग' कहा जाता है। इस प्रकार भाष्यकार ने उपर्युक्त उदाहरण द्वारा यह सिद्ध किया कि चित्त विष्याकारेण परिणमित होता रहता है।

इसके विपरीत विषयोपरक्त चित्त पुरुष का विषय होता है। चित्त की वृत्तियां स्वामी पुरुष को सदा ज्ञात रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुष अपरिणामी है। चित्तवृत्ति पुरुष को कभी अज्ञात नहीं रहती क्योंकि जब कभी चित्त की वृत्ति होगी उसका प्रतिबिम्ब पुरुष पर अवश्यमेव पडेगा। उसे कभी यह सन्देह नहीं होता कि हम सुखी हैं अथवा नहीं। यदि सुखाकार चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब पुरुष पर पडेगा तो वह अवश्य ही सुख

का उपभोग करेगा। चित्तवृत्ति के सदा ज्ञात रहने के कारण पुरुष का अपरिणामित्व सिद्ध है।[1]

भाष्यकार ने पुन: बौद्ध मतावलम्बियों की इस आशंका को रखा है[2] जोकि चित्त को ही आत्मा मानते है और स्वीकार करते हैं कि चित्त अपने को तथा विषय की अग्नि के समान प्रकाशित करता है। उसका उत्तर सूत्रकार ने दिया है कि वह चित्त दृश्य होने से स्वयं प्रकाश नहीं है।[3] जैसे दूसरी इन्द्रियां और शब्दादि विषय दृश्य होने से स्वयं प्रकाश नहीं है उसी तरह मन भी स्वयं प्रकाश नहीं है। ऐसा समझना चाहिए।[4]

इस तर्क में दिए अग्नि के दृष्टांत को अयुक्त ठहराकर भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि अग्नि प्रज्वलित हो रही हो और वह अपने रुप को प्रकाशित न करें, वह तो सर्वदा अपने को प्रकाशित करती है। अत: अग्नि अपने अप्रकाशरुप को प्रकाशित नहीं करती,[7] वह तो स्वयं प्रकाश है। इसके विपरीत मन अपनी वृत्ति को बताते हुए कभी अपने को प्रकाशित करता है कभी नहीं। उदाहणार्थ- 'अहं सुखी' इस ज्ञान में अपना प्रकाश कर रहा है किन्तु 'अयं घट:' इस ज्ञान में अपने को प्रकाशित नहीं कर रहा है। परन्तु अग्नि तो सर्वदा अपने को प्रकाशित करती है। अत: अग्नि का दृष्टांत उपयुक्त नहीं है ऐसा भाष्यकार का मत है।

द्वितीय प्रश्न यह है कि आखिर प्रकाश का मतलब क्या है? यह प्रकाश प्रकाश्य-घट तथा प्रकाश-प्रदीप के संयोग से होता है। अभिप्राय यह है कि किसी व्यक्ति के पूछने पर कि घट प्रकाश कब होता है? जब घट और प्रदीप का संयोग होता है किन्तु अग्नि के प्रकाश में किस प्रकाशक का संयोग होना चाहिए क्योंकि अग्नि को किसी प्रकाशक की आवश्कता नहीं, वह तो स्वयमेव अपने को प्रकाशित करता है। एक पदार्थ में संयोग नहीं देखा गया। संयोग द्विष्ठ पदार्थ है अत: दो में रहता है। अपने ही स्वरुप में अपने ही का संयोग होना सम्भव नहीं।[6] इससे सिद्ध होता है कि चित्त जड़ होने से स्वयं प्रकाशक नहीं है। जिस प्रकार नैय्यायिकों का यह विचार व्यर्थ है कि आकाश आत्म प्रतिष्ठ है पर प्रतिष्ठ नहीं। चित्त को अपनी इस वृत्ति के प्रकाश में पुरुष के चैतन्य अंश की आवश्यकता पडती है। वह दृश्य होने से चैतन्य कोटि में नहीं आ सकता।

यदि 'स्वाभास चित्त है' इस शब्द का अर्थ यह लिया जाय कि चित्त किसी अन्य से आग्राह्य ही है। अत: चित्त अपना विषय आप न होने से कर्मकर्तृ विरोध की सम्भावना मिट जाती है। परन्तु तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि चित्त किसी का भी विषय न होगा तो इसका ज्ञान किसी के द्वारा न होने से चित्त विषयक ज्ञानपूर्वक जो प्राणियों की प्रवृत्ति देखी जाती है सो नहीं देखी जानी चाहिए परन्तु देखी तो जाती है? अत: चित्त विषय है अविषयी नहीं। भाव यह है कि, तार्किक आदि के मत में यह नियम है कि प्रथम क्षण में द्रव्य पदार्थ की उत्पत्ति होती है, द्वितीय क्षण में वह क्रियावाला होता है और तृतीय क्षण में किसी कार्य को करने से वह कारक बनता है परन्तु बौद्धमत में यह नियम नहीं। क्योंकि उनके मत में पदार्थ क्षणिक होने के कारण भिन्न-भिन्न क्षण में उसका अस्तित्व असंगता है। अत: चित्त की जो उत्पत्ति वही क्रिया और वही कारक है। अत: चित्त की जो उत्पत्ति वही क्रिया और वही कारक है तो विषय और अपना प्रकाशक अन्य क्रिया न होने के कारण उसको विषयाभास और स्वभाव मानना स्पष्ट ही विरुद्ध है। अत: यह चित्त पुरुष से ही ज्ञात है। क्योंकि पुरुष के चित्त

में क्रोधादि वृत्ति के ज्ञान होने से लौकिक मानवों की क्रोधादिनिवृत्ति के लिए प्रवृत्ति दिखायी देती है। मैं क्रुद्ध हूं, मैं भयभीत हूं, इसमें राग है, तथा इसमें द्वेष है इस प्रकार ज्ञान का आकार होता है। यह ज्ञान चित्त को विषय मानने से उत्पन्न नहीं होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि चित्त पुरुष का दृश्य पडता है तथा उस दृश्य को देखने वाला दृष्टा पुरुष है। अत पुरुष एव चित्त दोनों भिन्न स्वरुपवान् होने से दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है।

दूसरी युक्ति यह भी दी जा सकती है कि यदि चित्त ही द्रष्टा मान लिया जाय तो एक समय में चित्त अपने एवं घटपटादि विषय को प्रकाशित नहीं कर पाएगा।[१] क्योंकि एक क्षण में एक ही वृत्ति सम्भव है। एक ही समय घटाकार एवं घटाकारवृत्ति होना असम्भव है। वैसे ही एक ही समय में विषयाकार और स्वीकार वृत्ति का होना भी असम्भव है। दो वृत्तियां एक साथ नहीं हो सकती।

पुन. बौद्धवादी कहते है कि चित्त अपना प्रकाशक आप होने पर ता 'आत्माश्रय' दोष दिया ही गया है यदि प्रथम चित्त का प्रकाशक द्वितीय और द्वितीय चित्त का प्रकाशक तृतीय हो, ऐसा मान लिया जाय तब विषय एवं चित्त दोनों का ज्ञान हो जाएगा। इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार ने देते हुए कहा है[१०] कि यदि यह माना जाय कि क्षण-क्षण में चित्त बदलता रहता है अर्थात् एकचित ने एक विषय ग्रहण किया और इस विषय सहित चित्त को दूसरे चित्त ने। इसी प्रकार उसको तीसरे को चौथे ने, तो यह क्रम बराबर चलता रहेगा- कभी समाप्त नहीं हो सकेगा, इसमें 'अनवस्थारुप' दोष की प्रसक्ति होगी। द्वितीय दोष 'स्मृतिसंकाररुप' है। स्मृतिसंकाररुप दोष का स्पष्टीकरण भाष्यकार ने इस प्रकार किया है कि विषय के अनुभवकाल में जब अनुभवात्मक 'घटमहनुभवामि' इस प्रकार का एक ही ज्ञान माना जाता है तब इस ज्ञानजन्य संस्कार द्वारा 'घटमहं स्मरामि' इस प्रकार की एक ही स्मृति उत्पन्न होती है। क्योंकि अनुभवानुसार स्मृति का होना सर्वमत संमत है। और पूर्वोक्तरीति से जब एक ज्ञान (चित्त) का प्रकाशक दूसरा ज्ञान और दूसरे का प्रकाशक तीसरा इत्यादि ज्ञानधारा मानेंगे तब 'घटमहमनुभवामि' 'घटज्ञानमहमनुभवामि' घटज्ञानज्ञानमहमनुभवामि अर्थात् मैं घट का अनुभव करता हूं, मैं घट को ज्ञान को अनुभव करता हूं, मैं घट के ज्ञान के ज्ञान को अनुभव करता हूं इस प्रकार के अनुभव की धारा चालू होने पर इस अनुभवजन्य संस्कार द्वारा 'घटं स्मरामि' 'घटज्ञानं स्मरामि घटज्ञान ज्ञानं स्मरामि' में घट को स्मरण करता हूं। इस प्रकार के असंख्य स्मृति ज्ञान की धारा चालू होगी। इस प्रकार की असंख्य स्मृतियों की धारा प्रवाहित होने पर यह विवेक नहीं हो पाएगा कि अनुभवजन्य कौन स्मृति है? अतः अन्य स्मृति के स्थान पर अन्य स्मृति समझी जाएगी। इस प्रकार का स्मृतियों का ठीक-ठीक तरह ज्ञान न होना भी स्मृतिसंकररुप दोष कहा जाता है, जो सर्वानुभव विरुद्ध है। अतः ज्ञान का प्रकाशक ज्ञान नहीं, किन्तु साक्षी रुप आत्मा ही ज्ञान का प्रकाशक है। भाष्यकार ने ठीक ही कहा है[११] कि बुद्धि के साक्षी पुरुष का अपलाप करने वाले वैनाशिकों ने सब ही धर्म, अधर्म, बन्ध, मोक्षादि की व्यवस्था को असंगत कर दिया है।

क्षणिक विज्ञानवाद की आलोचना

इसके अतिरिक्त अन्य जिन-जिन विज्ञानवादी तथा शून्यवादी आदि वैनाशिकों ने जो आत्मा के स्वरुप की अपने तर्कों द्वारा कल्पना की है सब न्याय संगत नहीं है। भाष्यकार विज्ञानवादी यौगाचार-मतावलम्बी बौद्ध लोगों का मत देख कर उनका खण्डन करते है[१२] कि कोई क्षणिक विज्ञानबादी चित्तमात्र को आत्मतत्व की कल्पना करके तथा क्षणिक मानकर भी, वह सत्वमात्र आत्मतत्व स्थिर है, जो सांसारिक तथा मलिन-पचस्कन्धों[११] को त्यागकर मुक्तावस्था में अन्य शुद्ध पचस्कन्धों को अनुभव करता है, ऐसा कहकर पुनः भयभीत होते है। अभिप्राय यह है कि प्रथम ससारकाल में क्षणिक विज्ञानरुप बुद्धि को आत्मा मानकर मोक्षकाल में उसी को स्थायी मानने से 'स्वमत विरोध' स्पष्ट ही है। तथा 'युक्ति विरोध' भी है कि जिस आत्मा ने साधन किया हुआ साधन फल दिए बिना ही नष्ट हो गया। अतः 'कृतविप्रणाश' और जो आत्मा उत्पन्न हुआ, उसने साधन किया था नहीं फिर भी उसको फल मिला, अत. 'अकृताभ्यागम' दोष उपस्थित होता है। इस प्रकार क्षणिक विज्ञानवाद अकृताभ्यागम तथा कृतविप्रणाशरुप दोषग्रस्त होने से न्याय विरुद्ध संसार में देखा जाता है कि जो प्राणी कर्म करता है उसका फल उसे ही उपलब्ध होता है परन्तु आत्मा को क्षणिक मानने से सर्वसाधारण के अनुभव का विरोधी हो जाएगा।

(क्रमशः)

प्रभारी

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय (गु०का०वि०)

हरिद्वार

वेदों में प्रयुक्त अन्योक्ति काव्यालंकार

डा0 रामनाथ वेदालंकार

काव्य शास्त्रियों ने कतिपय अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार और उपमा, रुपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार कल्पित किये हैं, जिन्हें कविजन अपने काव्यों में कविता को अलंकृत करने तथा काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त करते हैं। परन्तु यह नहीं मान बैठना चाहिए कि काव्य शास्त्रियों ने अलंकार पहले निर्धारित कर लिए थे, उनका प्रयोग कवियों ने बाद में किया। वस्तुस्थिति यह है कि वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास आदि महाकवियों के काव्यों में प्रयुक्त अलंकृत शब्दार्थो को देख कर ही भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, मम्मट आदि आचार्यों ने नामोल्लेख सहित अलंकारों की उद्‌भावना की । लौकिक काव्यों से भी पूर्व वेद-संहिताओं में तथा परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् आदि वैदिक साहित्य में अलंकारों का प्रयोग मिलता हैं। अतः काव्यालंकारों का मूल उद्‌भव वेदों को ही माना जाना चाहिए।

यहां हम वेदों में प्रयुक्त अन्योक्ति अलंकार को लेकर कुछ विवेचना करेंगे। अन्योक्ति अलंकार अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के अन्तर्गत आता है। अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में वर्णन अप्रस्तुत का होता है, किन्तु उससे व्यंजना प्रस्तुत की हो रही होती हैं। काव्यप्रकाश के रचयिता आचार्य मम्मट ने अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के पांच भेद दर्शाये हैं - १. कार्य के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत कारण का वर्णन करना, २ कारण के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत कार्य का वर्णन करना, ३ सामान्य के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत विशेष का वर्णन करना, ४. विशेष के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत सामान्य का वर्णन करना, ५ तुल्य के प्रस्तुत होन पर उसके तुल्य किसी अन्य का वर्णन करना। अप्रस्तुत प्रशंसा के पांचवें भेद को ही प्रायः रीतिकालीन आचार्यों ने अन्योक्ति अलंकार नाम दिया है।

इस अन्योक्ति अलंकार को स्पष्ट करने के लिए संस्कृत साहित्य से इसके कुछ उदाहरण आगे दिये जा रहें हैं।

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किं तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च
पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च।।

"इस दुष्ट समुद्र ने सरिताओं के मुखों से चारों ओर से पानी लेकर भला क्या कमायी की? उस पानी को खारा कर दिया, वाडवाग्नि में उसकी आहुति दे दी और पाताल की कोख में डाल दिया।" यहां अप्रस्तुत समुद्र के वर्णन से उस प्रस्तुत मनुष्य की व्यंजना हो रही है जो दूसरों की संपत्ति को अपने अधीन करके दुष्कार्य में लगा देता है।

एकः कपोतपोतः शतश· श्येना· क्षुधाभि धावन्ति।

अम्बरमावृति शून्य हर हर शरणं विधेः करुणा।।

"कबूतर का बच्चा एक है, उसकी ओर भूख से पीडित सैंकडो बाज दौडे आ रहे हैं। आकाश में कोई छिपने का स्थान भी नहीं है। ऐसी अवस्था में विधाता की दया ही शरण है।" यहां कोई शत्रुओं से आक्रमण किया जाता हुआ, शरणहीन, असहाय मनुष्य प्रस्तुत है उसके स्थान पर अप्रस्तुत कपोत-शिशु का वर्णन किया गया है।

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्

अम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वे तु नै कादृशाः।

केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा

यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः।।

"हे मित्र चातक, क्षण भर के लिए सावधान मन से मेरी बात सुन लो। आकाश में बादल तो बहुत से हैं, किन्तु सब एक समान नहीं है। उनमें से कुछ ऐसे हैं जो वर्षा से भूमि को सींचते रहते हैं, किन्तु दूसरे कुछ ऐसे भी हैं जो केवल व्यर्थ ही गर्जना ही करते हैं, देते कुछ नहीं। इसलिए जिसे भी देखो उसी के आगे दीन वचन बोल कर पानी की मांग मत करो। यहां अप्रस्तुत चातक के वृतान्त से प्रस्तुत याचक को कहा जा रहा है कि तुम देने वाले और न देने वाले हर एक के आगे हाथ मत पसारो।"

इसी प्रसंग में कबीर का यह दोहा भी द्रष्टव्य है:

माली आवत देखि कै, कलियन करी पुकार।

फूली-फूली चुनि लिये, काल्हि हमारी बार।।

"माली को आता देख कर कलियां पुकार मचा रहीं हैं कि माली ने फूली-फूली कलियों को चुन लिया है, कल हमारी भी बारी आने वाली है।" यहां माली और कलियों के अप्रस्तुत वृत्तान्त द्वारा सभी लोग यमराज के मुख में जाने वालें हैं। यह प्रस्तुत अर्थ सूचित हो रहा है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी स्थलों में यह बात दिखाई देती है कि प्रस्तुत कोई अन्य है और वृत्तान्त किसी अन्य अप्रस्तुत का वर्णित किया जा रहा है।

इस अलंकार को आचार्य रुद्रट ने भी अन्योक्ति नाम से ही स्मरण किया है तथा निम्नलिखित उदाहरण दिया है :

मुक्त्वा सलीलहंसं विकसितकमलोज्जवलं सरः सरसम्।

बकलुलितजलं पल्वलमभिलषसि सखे न हंसोऽसि।।

कोई हंस दूसरे हंस को कह रहा है कि राजहंस जिसमें लीलापूर्वक विहार करते हैं और जो खिले हुए कमलों से उज्जवल है उस सरस सरोवर का छोड़कर तू बगूलों से विलोडित जल वाले जोहड़ को चाट रहा है,

इससे प्रतीत होता है कि तू सचमूच हस नहीं है। यहां अप्रस्तुत हंस के वृत्तांत से उस प्रस्तुत नर श्रेष्ठ को चेतावनी दी जा रही है जो अपनी श्रेष्ठता को तिलाजलि देकर अश्रेष्ठ व्यवहार करने पर उताद हो रहा है।

ऐसी अन्योक्तियां वेद संहिताओं मे भी बहुतायत से मिलती हैं। उनमें से कुछ का दिग्दर्शन यहां कराया जा रहा है।

१. *पहेली-रुप अन्योक्तिया*

२ *द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।*
तयोरन्य· पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

ऋग्० १.१६४.२०

परस्पर सहयोग करने वाले एक-दूसरे के सखा दो सुन्दर पंखों वाले पंछी हैं, जो एक ही वृक्ष पर बैठें हैं। उनमें से एक वृक्ष के स्वादु फल को खा रहा है, दूसरा बिना चखे केवल द्रष्टा बना हुआ है।

वस्तुत: यहां पक्षियों का वृत्तान्त अप्रस्तुत है, प्रस्तुत है परमात्मा, जीवात्मा और जगत् परमात्मा और जीवात्मा एक-दूसरे के सखा हैं तथा एक ही जगत्-रुप वृक्ष पर बैठें हैं। उनमें से एक जीवात्मा जगत् के स्वादु फलों का भोग कर रहा है, दूसरा परमात्मा साक्षीमात्र बना हुआ है। इस प्रकार अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा यहां प्रस्तुत की व्यंजना हो रही है।

३ *द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।*
आ पुत्रा अग्न मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः।।

ऋग्० १.१६४ ११

बारह अरों वाला एक चक्र है, जो टूटता नहीं। सत्य नियमों वाला वह चक्र आकाश में चक्कर काट रहा है। एक विशेष बात यह है कि इसके ऊपर ७२० यूगलपुत्र बैठे हुए हैं।

यहां अप्रस्तुत बारह अरों वाले चक्र के वर्णन से प्रस्तुत बारह महीनों से युक्त संवत्सर की अभिव्यंजना हो रही है, जिसमें ७२० मिथुनभूत अहोरात्र (३६० दिन और ३६० रात्रियां) स्थित हैं।

इस श्रेणी की अन्योक्तियां वेदों में बहुत हैं।

अग्नि को संबोधित अन्योक्तियां

कुछ अन्योक्तियां वेदों में अग्नि को संबोधित की गयी हैं।

यथा .

४ *स छँ सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।*
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्।।

यजु० ११.३७

हे अग्नि, तू उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर, तू महान् है, विद्वानों को प्राप्त होने वाला तू संसार में जगमगा।

हे पवित्र, प्रशस्त अग्नि, तू आरोचमान धुएं को उत्पन्न कर।

यहां वक्ता का इसमें तात्पर्य नहीं है कि भौतिक अग्नि चमके और गगनचुम्बिनी धूमशिखा को ऊपर उठाये। वस्तुतः यहां मनुष्य प्रस्तुत है। अप्रस्तुत अग्नि के उद्बोधन द्वारा प्रस्तुत मानव को उद्बोधन दिया जा रहा है कि तू अपनी शक्ति को पहचान, तू महान् है, ससार में सुदृढ स्थिति को प्राप्त कर अनुपम तेज से जगमगा अपने आरोचमान, दर्शनीय प्रभाव रुप धूम को सर्वत्र फैला।

५ *प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्‌म्।*

बृहद्भिर्भानुभिर्भासिन् मा हिं थँ सीस्तन्वा प्रजाः।।

यजु० १२ ३२

हे अग्नि, ज्योतिर्मय तू अपनी शिव ज्वालाओं से प्रयाण कर। विशाल तेजों से जगमगाता हुआ तू अपने शरीर से प्रजाओं की हिंसा मत कर।

यहां भी वस्तुतः वक्ता का तात्पर्य अग्नि को उद्बोधन देने में नहीं, प्रत्युत मानव को उद्बोधन देने में है। जो मनुष्य भयंकर हिंसा और घात-पात में लगा हुआ है उसे कहा जा रहा है कि तू अपने भीषण शस्त्रास्त्रों से निर्दोष प्रजाजनों की हिंसा मत कर, प्रत्युत अपने अशिव तेज को छोड़कर शिव तेज का प्रसार कर और भयंकर नर संहार का त्याग करके जन-कल्याण कर।

६. *उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यमित्राँ ओषतात् तिग्महेते।*

यो नो अरातिं थँ समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम्।।

यजु० १३ १२

हे अग्नि, तू उठ अपनी ज्वालाओं का प्रसार कर। हे तीक्ष्णज्वाल अग्नि, तू शत्रुओं को दग्ध कर। हे देदीप्यमान, जो हमसे शत्रुता करे उसे तू शुष्क वृक्ष के समान भस्म कर दे।

यहां भी अप्रस्तुत अग्नि के माध्यम से प्रस्तुत मानव को ही उद्बोधन दिया जा रहा है- हे मानव, तू उठ, कमर कस ले, जागरुक रह कर अपने प्रभाव को फैला। हे तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों वाले, तू अपने आग्नेयास्त्रों से शत्रुओं को जला दे। हे प्रदीप्त तेज वाले, जो हमारे प्रति शत्रुता का आचरण करता है, उसे सूखे वृक्ष की भांति भस्म कर दे।

घोड़े को संबोधित अन्योक्तियां

वेद की कुछ इतर अन्योक्तियां वाजी (घोड़े) के नाम से मानव को उद्बोधन दे रही हैं। यथा :

७. *वातरंहा भव वाजिन युज्यमान*

इन्द्रस्यैव दक्षिणः श्रियैधि।

युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस

आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु।। यजु० ९.८

हे घोड़े, तू वायुवेग से चल, रथ में जुड़ कर तू सूर्य जैसी शोभा से संपन्न हो। सर्वविद्याविशारद लोग तूझे रथ में नियुक्त करें। त्वष्टा सूर्य तेरे पैरों में वेग उत्पन्न करे।

वस्तुत: यहां घोड़े के वृत्तान्त से मानव को प्रेरित किया जा रहा है। हे बली मानव, तू वायुवेग से पुरुषार्थ कर इन्द्र राजा के समान लक्ष्मीवान् बन। सब ज्ञान और कर्म के वेत्ता विद्वान् लोग तुझे महान् कर्मों में नियुक्त करें। त्वष्टा अर्थात् दोषच्छेदक आचार्य तेरे व्यवहारों में वेग ला देवे।

८. स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।

महिमा तेऽन्येन न सन्नशे।। यजु० २३ १५

हे घोडे, स्वयं तू अपने को समर्थ बना, स्वयं यज्ञ कर, स्वयं अभिलषित प्रदेश का सेवन कर। तेरी महिमा को अन्य कोई नहीं पा सकता। यहां भी घोडे के प्रोद्बोधन द्वारा मानव को ही प्रोद्बोधन दिया जा रहा है।

९. तव शरीरं पतयिष्णवर्वन् तव चित्तं वात इव ध्रजीयान्।

तव श्रृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति।। यजु० २९ २२

हे घोड़े, तेरा शरीर पतनशील अर्थात् उछलने वाला है, तेरा चित्त वायु के समान वेगवान् है। तेरे सींगों के समान प्रोन्नत रोम शरीर में सर्वत्र विशेष रुप से स्थित हैं, जो तेरे चलने पर टूट-टूट कर जंगलों में गिरते रहते हैं।

यहां श्लेषमूलक अन्योक्ति अलंकार है। घोड़े के वृत्तान्त से मानव का वृत्तान्त वर्णित है। हे घोडे के समान बली मानव, तेरा शरीर पतनशील अर्थात् विनश्वर है, तेरा चित्त वायु के समान वेगमय है। सींगों के तुल्य विद्यमान तेरे शस्त्रास्त्र शस्त्रागारों में अनेकत्र स्थित हैं। छोडे जाते हुए वे अरण्यों अर्थात् अरमणीय शत्रुदलों में विचरते हैं।

सूर्य से सम्बद्ध अन्योक्तियां

अब सूर्य-विषयक कुछ अन्योक्तियों का दिग्दर्शन करते हैं।

१०. उद्यंस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव में जहि।

अवैनानश्मना जहि ते यन्त्वधमं तम:।। अथर्व० १३.१.३२

हे प्रकाशक सूर्य, उदित होता हुआ तू मेरे शत्रुओं को मार गिरा। इन्हें तू अश्मा अर्थात् व्यापक रश्मिजाल से विनष्ट कर दे। वे शत्रु घोर अंधकार को प्राप्त करें।

वस्तुत: सूर्य की अन्योक्ति से यहां किसी नेता को उद्बोधन दिया जा रहा है। हे दिव्यगुणयुक्त नायक, उत्कर्ष को प्राप्त करता हुआ तू मुझ प्रार्थी के वैरियों को नष्ट कर। इन्हें तू अश्मा अर्थात् लोहे या पत्थर के गोलों से विध्वस्त कर दे। वे शत्रु भूमि के अन्दर विद्यमान अंधेरी काल कोठरियों में डालें जाएं।

अगले मंत्र में हंस नाम से सूर्य का वर्णन करते हुए अन्योक्ति द्वारा जीवात्मा का वृत्तान्त सूचित किया

गया है।

११. सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।

स देवान्सर्वानुरस्युपदद्य सम्पश्यन् याति भुवनानि विश्वा।। अथर्व० १३.२ ३८

स्वर्ग अर्थात् आकाश की ओर उडते हुए इस सूर्य रुप हंस के उत्तरायण-दक्षिणायन-रुप पंख सहस्त्रों दिनों से फैले हुए हैं। वह सब किरण-रुप देवों को अपने वक्षःस्थल में लेकर सब भुवनों को प्रकाशित करता हुआ यात्रा कर रहा है।

यहां सूर्य के यात्रा-वृत्तांत से जीवात्मा की यात्रा व्यङ्ग्य हो रही है। जीवात्मा सहस्त्रों दिनों से अपने ज्ञान-कर्म-रुप पंखों को फैलाये हुए नाना योनिओं में परिभ्रमण कर रहा है। वह इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि देवों को अपने वक्ष में धारण करता हुआ, सब भूतों को देखता हुआ संसार-यात्रा का पथिक बना हुआ है।

एक अन्य मन्त्र में सूर्य को उद्बोधन देते हुए कहा गया है :

१२. हरिः सुपर्णो दिवमारुहोऽर्चिषा

ये त्वा दिप्सन्ति दिवमुत्पतन्तम्।

अव तान् जहि हरसा जातवेदो

अबिभयदुग्रोऽर्चिषा दिवमारोह सूर्य।।

अथर्व० १९.६५.१

हे सूर्य, तू हरि है, मलिनताओं को हरने वाला है, सुपर्ण है, किरण-रुप सुन्दर पंखों वाला है, तू अपनी ज्योति के साथ द्युलोक में चढ़ जा। द्युलोक की ओर उडते हुए तेरी जो हिंसा करना चाहें उन्हें हे जातवेदा सूर्य, तू अपने तेज से विनष्ट कर दे। हे सूर्य, भयभीत न होता हुआ उग्र तू अपनी अर्चि के साथ द्युलोक में आरोहण कर जा।

यहां सूर्य की अन्योक्ति से परम उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील किसी मानव को ही उद्बोधन दिया गया है कि हे मानव, तू प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता जा, मार्ग में जो कोई भी विघ्नकारी तुझे उन्नति के मार्ग से प्रच्युत करना चाहे उसे अपने तेज से या आग्नेयास्त्रों से भस्म कर दे।

वेदों में प्रयुक्त उपरिलिखित कतिपय अन्योक्तियां हमने प्रदर्शित की हैं। पाठक अनुभव कर सकते हैं कि इनमें कितना बल है, कैसी ओजस्विनी प्रेरणा है। सीधे मनुष्य को संबोधन करने पर उतना ओज, उतनी गरिमा, उतनी स्फूर्ति, उतनी तेजस्विता प्रकट नहीं हो सकती थी, जितनी अग्नि, अश्व, सूर्य आदि के माध्यम से मनुष्य को संबोधन करने में उत्पन्न हो सकी है।

अन्त में एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है। अन्योक्ति अलंकार तभी होता है कि जब अप्रस्तुत का वर्णन किया जा रहा हो तथा उससे प्रस्तुत की व्यंजना हो रही हो। उपर्युक्त उदाहरणों में यदि अग्नि, अश्व, सूर्य आदि में नेता मनुष्य के व्यवहार का समारोप होने से समासोक्ति अलंकार हो जाएगा।

किन्तु यदि यौगिक अर्थ के बल से अग्नि, वाजी, सूर्य, हस, हरि आदि शब्द वह्नि अश्व और सूर्य रुप वाच्यार्थों के साथ-साथ अग्रनेता, बलवान्, सन्मार्गप्रेरक, प्रकाशमान, प्रकाशक मनुष्य को भी अभिहित करे तब दोनों अर्थों के प्रकृत होने से श्लेष अलंकार होगा।

टिप्पणियां मन्त्रार्थ

१. अप्रस्तुत प्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया।
कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा।।

का०प्र० १०९८.९९

२. पदार्थ- (द्वा) दो (सयुजा) सहयोगी (सखाया) सखा (सुपर्णा) सुन्दर पंखों वाले पक्षी (समानं वृक्षम्) एक ही वृक्ष को (परिषस्वजाते) आलिंगन किये हुए हैं (तयोः) उन दोनों में से (एकः) एक (स्वादु) स्वादु (पिप्पलम्) फल को (अत्ति) खा रहा है, (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभिचाकशीति) केवल देख रहा है।

३. पदार्थ- (द्वादशारम्) बारह अरों वाल (ऋतस्य चक्रम्) सत्यमय चक्र है, (तत्) वह (न हि जराय) टूटता नहीं है, किन्तु (द्याम्) आकाश में (परि वर्वर्त्ति) चक्कर काट रहा है। (अग्न) हे विद्वन्, (अत्र) इस चक्र में (सप्त शतानि विंशतिः च) सात सौ और बीस (मिथुनासः पुत्राः) जोडीदार पुत्र (आ तस्थुः) आकर बैठें हुए हैं।

४. पदार्थ- (मियेध्य प्रशस्त अग्न) हे पवित्र, प्रशस्त अग्नि, तू (सं सीदस्व) उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर, तू (महान् असि) महान् है। (देववीतमः) विद्वानों को प्राप्त होने वाला तू (शोचस्व) चमक। (अरुषम्) चमकीले, (दर्शतम्) दर्शनीय (धूमम्) धुएं का (विसृज) छोड़, उत्पन्न कर।

५ पदार्थ- (अग्ने) हे अग्नि, (ज्योतिष्मान् त्वम्) ज्योतिष्मान् तू (शिवेभि. अर्चिभिः) शिव ज्वालाओं के साथा (प्रयाहि इत्) अवश्य प्रयाण कर। (बृहद्भि.) बड़े-बड़े (भानुभिः) प्रकाशों से (भासन्) भासित होता हुआ तू (तन्वा) शरीर से (प्रजाः) प्रजाओं की (मा हिंसीः) हिंसा मत कर।

६. पदार्थ- (अग्ने) हे अग्नि, तू (उत् तिष्ठ) उठ खडा हो, (प्रत्यातनुष्व) ज्वालाओं को फैला। (तिग्महेते) हे तीक्ष्णज्वाल अग्नि, तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (नि ओषतात्) निर्दग्ध कर दे। (समिधान) हे देदीप्यमान, (यः) जो (नः) हमारे प्रति (अरातिम्) अदान को, हानि को (चक्रे) उत्पन्न करे (नीचा तम्) उस नीच को (शुष्कम् अतसं न) सूखे वृक्ष के समान (धक्षि) भस्म कर दें।

७. पदार्थ- (वाजिन्) हे बलवान् घोड़े, (युज्यमानः) रथ में जोड़ा जाता हुआ तू (वातरंहाः भव) वायु के समान वेग वाला हो। (दक्षिण) दक्षतायुक्त तू (इन्द्रस्य इव) सूर्य के जैसी (श्रिया)
शोभा से (एधि) युक्त हो। (विश्ववेदसः) सब विद्याओं के ज्ञाता (मरुतः) मनुष्य (त्वा) तुझे (युञ्जन्तु) रथ में

नियुक्त करें। (त्वष्टा) सूर्य (ते) तेरे (पत्सु) पैरों में (जवम्) वेग को (आ दधातु) रख देवे।

८. पदार्थ- (वाजिन्) हे बलवान् घोडे, तू (स्वयम्) अपने आप (तन्वम) शरीर को (कल्पयस्व) समर्थ बना, (स्वयम्) अपने आप (यजस्व) यज्ञ कर, (स्वयम्) अपने आप (जुषस्व) मनोवांछित प्रदेश का सेवन कर। (ते महिमा) तेरी महिमा (अन्येन) दूसरे के द्वारा (न सनशे) प्राप्त नहीं की जा सकती।

९ पदार्थ- घोडे के पक्ष में। (अर्वन्) हे घोड़े, (तव शरीरम्) तेरा शरीर (पतयिष्णु) उछलने वाला है। (तव चित्तम्) तेरा चित्त (वात इव) वायु के समान (ध्रजीयान्) अतिशय वेगवान है। (तव श्रृङ्गाणि) तेरे सींग अर्थात सींगों के समान प्रोन्नत रोम (पुरुत्रा) तेरे सारे शरीर में (विष्ठिता) विविध रुप में स्थित हैं, जो (जर्भुराणा) टूट-टूट कर (अरण्येषु) जंगलों में (चरन्ति) गिरते हैं।

मानव के पक्ष में। (अर्वन्) हे अग्रणी मानव, (तव शरीरम्) तेरा शरीर (पतयिष्णु) नाशवान् है। (तव चित्तम्) तेरा चित्त (वात: इव) वायु के समान (ध्रजीयान्) अतिशय वेगवान है। (तव श्रृङ्गाणि) तेरे सींग अर्थात सींगों के तुल्य नोकीले तेरे शस्त्रास्त्र (पुरुत्रा) बहुत स्थानों में (विष्ठिता) विविध रुप में स्थित हैं, जो (जर्भुराणा) प्रहार किये जाने पर (अरण्येषु) अरमणीय शत्रुओं पर (चरन्ति) गिरते हैं।

१० पदार्थ- (दिव सूर्य) हे प्रकाशक सूर्य, (उद्यन् त्वम्) उदित होता हुआ तू (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (अव जहि) मार गिरा। (एनान्) इन्हें (अश्मना) व्यापक रश्मिजाल से (अव जहि) मार गिरा। (ते) वे शत्रु (अधमं तम:) निचले अंधेरे में (यन्तु) चले जायें।

११. पदार्थ- (स्वर्गं पतत.) आकाश की ओर उड़ते हुए (हरे:) मलिनताओं को हरने वाले (अस्य हंसस्य) इस सूर्य रुप हंस के (पक्षौ) उत्तरायण-दक्षिणायन-रुप पंख (सहस्राह्ण्यम्) हजारों दिनों से (वियतौ) फैले हुए हैं। (स.) वह (सर्वान् देवान्) सब प्रकाशक किरणों को (उरसि) अपने वक्ष.स्थल में अर्थात् सूर्यमण्डल में (उपदद्य) देकर (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को (सम्पश्यन्) प्रकाशित करता हुआ (याति) गति कर रहा हैं।

१२. पदार्थ- (हरि:) मलिनताओं को हरने वाला (सुपर्ण.) किरण-रुप सुन्दर पंखों वाला तू, हे सूर्य (अर्चिषा) ज्योति से (दिवम् उत्पतन्तम्) मध्याह्नाकाश की ओर उडते हुए (त्वा) तुझे (ये दिप्सन्ति) जो दबाना चाहें, विघ्नित करना चाहें (तान्) उन्हें, (जातवेद:) हे प्राकशक सूर्य, तू (हरसा) ज्योति से (अवजहि) मार गिरा। (अविभ्यत्) भयभीत न होता हुआ (उग्र:) उग्र तू (सूर्य) हे सूर्य (अर्चिषा) तेज के साथ (दिवम्) मध्याह्नाकाश में (आरोह) चढ़ जा।

१३. *समासोक्ति: समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणै: ।*

व्यवहार समारोप: प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुन: ।।

सा०द० १०.५६

वेद मन्दिर

ज्वालापुर, हरिद्वार-२४९४०७

संस्कृतवाङ्मये धनुर्वेद विज्ञानम्

डा० दिनेशचन्द्रो "धर्ममार्तण्डः"

अतिप्राचीनकालात् शारीरिक शिक्षायश्चर मोत्कर्षो धनुर्वेद विज्ञाने ऽन्तर्निहितोऽस्ति। अत्र विज्ञानस्य तात्पर्यं प्रयोगविज्ञानम् विशिष्टं ज्ञानं वा ऽस्ति। धनुर्वेदस्य इतिवृत्तं तत्परम्परावाप्त शिक्षणञ्च वेदानामेव पुरातनीमन्वेति। अत एव सर्वेषु वेदेषु अस्य विज्ञानस्य वर्णनं विहितम्। अस्य एकमेव कारण केवलम् राष्ट्ररक्षणमेवास्ति। धनुर्वेदं विना राष्ट्ररक्षणमसम्भवम्।

पुरा विशेषेण क्षत्रिया एव राष्ट्ररक्षा-भारं वहन्ति स्म। 'क्षत्रे' ति शब्दस्य अर्थ एवाऽस्ति विघ्नवारक। महाकविना कालिदासेन रघुवंश महाकाव्ये भणितं यत् क्षत्रिया स्वीयां रक्षां स्वयमेव कुर्वन्ति स्म, ते पररक्षिताः पराश्रितावा नासन्। अत स्वस्य परेषाञ्च रक्षायै धनुर्वेदस्य प्रयोजनम् नितराम् आवश्यकम्। महर्षि वशिष्ठ प्रणीतायां धनुर्वेदसंहितायाम् लिखितं यत् दुष्टतस्करस्तेनादिभ्य साधूनां परित्राणं प्रजानाञ्च पालनं धनुर्वेदस्य मुख्यं प्रयोजनमस्ति। यदि कस्मिंश्चित् ग्रामे एकोऽपि महान् धनुर्धरो भवति स्म तर्हि तेन तस्य ग्रामस्य रक्षा भवति स्म, शत्रवः तम् वीक्ष्य पलायन्ते स्म। महाकविना भवभूतिनाऽपि 'उत्तरराम चरिते' धनुर्वेदस्य रक्षात्मकं स्वरुप चित्रितमस्ति। शुक्रनीत्यनुसारं धनुर्वेद. केवलं धनुः -सञ्चालन- प्रक्रियाया एव ज्ञानं न कारयति स्म, अपितु युद्धोपयोगिनां सकलास्त्र शस्त्राणाम् निर्माण सम्बन्धि प्रयोगात्मकं विवरणमपि उपस्थापयति स्म। तत्स्वरुपम् रौद्रात्मकं मन्यते स्म।

वैदिक युगे वीरतायाः सैन्यबलस्य च चिन्हम् धनुरासीत्। वस्तुत. सैन्यशक्तेः पर्यायः धनुरेव आसीत्। ऋग्यजुर्वेदसंहितयोर्निम्नाङ्कितैकमन्त्रानुसारम् सर्वाः काष्ठाः जेतुं शक्नुवन्ति स्म -

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।

धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम।।

ऋग्वेद ६.७५.२, यजु० २९ ३९

एवमेव अन्यत्र ऋग्वेदे ब्रह्मणस्पतिं लक्ष्यीकृत्य उदीरितं यत् ते बाणप्रक्षेपणे कुशला आसन्, स्वाभीप्सित प्राप्तिरपि धनुर्बलेनैव कुर्वन्ति स्म। तैः प्रक्षिप्ताः शराः कार्यसाधने सर्वथा समर्था आसन्-

ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पतिर्यत्र वष्टि प्रतदश्नोति धन्वना।

तस्य साध्वीरिषवो याभिरस्यति नृचक्षसो दृशये कर्णयोनयः।।

ऋग्० २.२४.८

अथर्ववेदे एकस्मिन् सूक्ते धनुः प्रति अभ्यर्थना विहिताऽस्ति। यत् त्वां संधार्य अहं क्षत्रतेजसा बलेन च युक्तः स्याम्। अत्रैव द्रविण कामना अपि विहिता-

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।

समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम्।। अथर्व० १८.२.६०

एवमेव यजुर्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे वीरपुरुषस्य लक्षणे सशस्त्ररूपं प्रतिपादितमस्ति। तत्र आशयोऽयमस्ति यत् वीरपुरुषाणां चापा· कदापि प्रत्यञ्चा- रहिता तूणीराश्च शररहिता· न भवन्ति। समासेन इदं वक्तुं शक्नुमो यत् वीरपुरुषाः सर्वदा चाप-सज्जिता. भवन्ति स्म -

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ उत।

अन्नेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधि ।।

यजु० १६ १०

"अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु" इति सामवेद (२१२)- मन्त्रेऽपि यत्र वज्रधारिणां सैनिकानां रक्षायै इन्द्र प्रार्थितस्तत्र युद्धे प्रयुक्ता· शरा जयन्तु, इति वर्णनम् उपलभ्यते।

चापेष्वोः वैदिक लौकिकं च व्यापक प्रभाव वीक्ष्यैव भगवता कृष्णेन 'श्रीमद्‌भागवते' भणितम् -

"आयुधाना धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम्" (भाग० ११.६ २०)

"उपवेदा प्रायोगिका भवन्ती"- ति प्रायशः सर्वे जानन्ति। प्रयोगानामभावे ते बहूनि दिनानि यावत् प्रचलिता न भवन्ति। आयुर्वेद -गान्धर्ववेद- स्थापत्यकलादीनां यावत् प्रयोगात्मकं शिक्षणम् अभ्यासश्च न स्यात् तावत् केवलं पुस्तकानामध्ययनेन आलोचनेन च यथार्थलाभो न भवति। कालक्रमेण विस्मृतिं प्राप्ता इतरे उपवेदास्तु केनापि प्रकारेण अद्यावधि· जीविता. परं धनुर्वेदस्य स्थितिरतीव चिन्तनीया अस्ति। केवलम् अरण्यक्षेत्रेषु एवास्य व्यवहारो दृग्गोचरीभवति। यस्मिन् भारते वर्षे धनुर्वेदसदृशम् अपूर्वम् सैन्यविज्ञानं स्यात्, तत् किं पारतन्त्र्यं कदापि अधिगन्तुम् शक्येत्। एतत् सर्वम् अस्माकम् अनवधानतया सञ्जातम्। इदानीम् स्वतन्त्रे भारते अनवधानतेयम् परिशोधनीया।

पुरा धनुर्वेदस्य इयान् महान् प्रचार आसीत् यत् पुराणरामायण महाभारत काव्यग्रन्थेषु सर्वत्र अस्य चर्चा व्यवहारश्च प्राप्नोति। बौद्ध साहित्यस्य 'ललितविस्तरे' [1] ग्रन्थेऽपि यत्र बोधिसत्वस्य अन्यासु कलासु वैलक्षण्यमिति कथितम् तत्र धनुर्वेदेऽपि नैपुण्यं भणितम्। रामायणकालवत् अस्मिन् समयेऽपि कुशलाय धनुर्धराय श्रेष्ठा कन्या दीयते स्म, डिण्डिम घोषोऽयं आसीत् यत् शिल्पज्ञाय कन्या दातव्या। 'मिलिन्दप्रश्ने' ये शिल्पाः परिगणिता. तेषु धनुर्वेदोऽपि आसीत्। एवमेव जैनागमे [2] द्विसप्ततिसंख्याककलानां मध्ये धनुर्वेदोऽपि आसीत्। सारांशत. प्रत्नग्रन्थेषु सर्वत्र चर्चितत्वात् यथा अन्ये उपवेदाः सुव्यवस्थित शास्त्रत्वेन प्रतिष्ठिताः आसन् तथैव अयमपि आसीत्, यस्य पठनम् पाठनं तदा व्यापकम् आसीत्।

धनुर्वेदस्य मूल प्रवक्ता भगवान् सदाशिवः । इमम् (धनुर्वेदं) सदाशिवात् परशुरामोऽवाप्नोत्। महर्षि वशिष्ठः तेषां सतीर्थ्य एव आसीत्। वशिष्ठात् विश्वामित्रेन प्राप्तम्। अत एव वसिष्ठप्रोक्त धनुर्वेदो विश्वामित्रप्रोक्त धनुर्वेदश्चोभावेव साम्यं भजेते। पादचतुष्टयात्मको धनुर्वेदो

१. द्र. ललितविस्तार शिल्पसंदर्शन परिवर्त द्वादश पृष्ठ १०८

२ द्र. समवायांग सूत्र तथा रायपसेयि सूत्र

विश्वामित्रप्रणीत एव इति प्रस्थानभेदे[3] वर्णनम् उपलभ्यते। 'व्यायामज्ञानकोशे' उदीरितमास्ति यत् वसिष्ठोक्ते धनुर्वेदे तन्त्रयुद्धस्य प्राधान्यमस्ति। विश्वामित्रेन धनुर्वेदशास्त्रं संशोध्य इदं शास्त्रीयम् रुपञ्च प्रदाय प्रधानाचार्य पदं लब्धम्। 'हिन्दुत्वे'-ति नाम्नि ग्रन्थे रामदासगौडमहाभागेन लिखितं यत् प्रस्थानभेदकारा. मधुसूदन सरस्वती महाभागाः विश्वामित्र प्रणीतं धनुर्वेदं जानन्तिस्म, यच्च अद्यावधिः अप्राप्योऽस्ति। किन्तु इदं विचारणीय यत् 'प्रस्थान भेदे' 'हिन्दुत्वे' च वसिष्ठोक्तस्य धनुर्वेदस्य चर्चा एव नास्ति इत्यम् धनुर्वेदस्य मौलिका प्रतना ग्रन्था. सम्प्रत्यनुपलब्धा उपलब्धा वा निम्नोट्टङ्किताः परिज्ञायन्ते। ते चैते-

शिवविरचितो धनुर्वेदः, वसिष्ठप्रणीतो धनुर्वेद. (संहितारुप.), भरद्वाजकृतो धनुर्वेदः, वैशम्पायनप्रणीतो धनुर्वेदः, वृद्धशार्ङ्गधर कृतो धनुर्वेद, द्रोणाचार्यप्रणीतो धनुः प्रदीप· परशुराम कृतो धनुश्चन्द्रोदयश्च।[5]

धनुर्वेदस्य दीक्षापादः, संग्रहपाद., सिद्धपादः प्रयोगपादश्चेति चत्वारः पादा विद्यन्ते।[6] महाभारतस्य नीलकण्ठी टीकायां दीक्षा, शिक्षा, आत्मरक्षा तेषां साधनानि चेति चत्वार. पादाः निर्दिष्टा.। अग्निपुराणानुसारम् अपि धनुर्वेदश्चतुष्पादात्मकः।[7] तत्र प्रथमे दीक्षापादे धनुर्लक्षणम्, अधिकारिनिरूपणं दीक्षा-अभिषेकादीनां विधानञ्चोपलभ्यन्ते। संग्रहपादे प्रामुख्येणाचार्यलक्षणं, मन्त्रशस्त्रादि विषयाणां संग्रह विधानञ्च विवृते स्तः। सिद्धपादे सकलविधशस्त्रास्त्राभ्यासविधिविधानं, मन्त्रदेवतासिद्धिविधानञ्च वर्णिते स्त.। प्रयोगपादे मन्त्रदेवतार्चनं सिद्ध शस्त्रास्त्रादि [8] प्रयोगादिकञ्च विवृते वरीवृततः।

चतुष्पादधनुर्वेदानुसारं धनुर्वेदस्य शिक्षा सैनिकी शिक्षा। इमां शिक्षां लक्ष्यीकृत्य वेदानां नैकेषु सूक्तेषु वर्णनं समायातम् अस्ति। यथा चन्द्रमभिलक्ष्य ऋग्सामवेदयोरेकस्मिन् सूक्ते भणितम्-

उद्घर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्त्वानां मामकानां मनांसि।

उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः।।

(ऋग्० १०.१०३.१० ; सा०उत्तरा० २१.१.१८५८)

---

३. प्रस्थानभेद्र , पृष्ठ १५

४. गुरुवेदज्योतिः, पृष्ठ ३०५

५. अमी ग्रन्था बङ्गविश्वकोषकारेण धनराजशास्त्रिणोल्लिखिताः पुराणेषूद्धृताश्च समवगम्यन्ते। (द्र० हरिकृष्ण शास्त्रिदाताराः, संस्कृतवाङ्मयम्, पृष्ठ १४१)

६. महाभारत, शल्य० ६.१४

७. अग्निपुराण २४९.१

८. नारायणास्त्र-पाशुपतास्त्र-ब्रह्मास्त्र-ब्रह्मदण्डास्त्र-ब्रह्मशिरसास्त्र-ऐन्द्रास्त्र

- वायव्यास्त्र-आग्नेयास्त्र-पार्जन्यास्त्र-पार्वतास्त्र-सार्पास्त्र-गारुडास्त्र-सम्मोहनास्त्र-स्तम्भनास्त्रादीनां युद्धप्रसङ्गादिषु परिवर्णनं रामायण-महाभारत-पुराणादिषु विहितमुपलभ्यते। (द्र० हरिकृष्ण शास्त्रिदाताराः, संस्कृत वाङ्मयम्, पृष्ठ १४२)

एवमेव यजुर्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे सैनिकीं शिक्षां सम्बोध्य कथितं यत् त्वं (शिक्षा) शत्रुहन्त्री विजयशीला च भव तथा त्वं देवतानां सर्वाणि कण्टकानि अपसारय। यथा चाऽऽह

सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिंह्यसि सपत्नसाही।

देवेभ्यः शुन्धस्व सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्य शुभस्व।।

(यजु० ५.१०)

इत्थं संस्कृत वाङ्मये वेदस्मृति गृह्यसूत्रेतिहासपुराणरामायणमहाकाव्य प्रभृतिषु क्वचित् विस्तरेण क्वचिच्च समासेन धनुर्वेदस्य व्यापकं स्वरूपं तत् शिक्षा चौल्लिखिता विभाति। राष्ट्ररक्षायै नूतने परिवेशे धनुर्वेदोपयोगो ऽनपह्नेय इतिदिक्।

वरिष्ठ प्रवक्ता, वेदविभागे

THE WORDSWORTH MATRIX IN G.D. ROBERTS' TANTRAMAR REVISTED

Dr. Satendra kumar

'The Tantramar Revisited' says Keith, in his 'Introduction' to Roberts' Selected Poetry and Critical Prose (1974), Shows the poet 'at the height of his power' and it transcends the poetry of mere 'nostalgia and rural description' to become' a sensitive and intelligent enquiry into the nature of memory and change'.[1] Usually remarking that the poem is derivative and reminiscent without being original or innovative.[2] Roberts did not invent a new form for his poem, his decision to remember and to echo in ' The Tantramar Revisited' the verse forrm, the cadences, and even specific details [3] of Evangeline is both apt and appropriate, not only because his poem takes as its theme, 'nostalgic rememberance', [4] but also because it takes as its subject a portion of the landscape of the Maritimes, and indeed precisely that portion which Cappon appositely calls, ' the land of Evangeline' [5]. Roberts adds historical depth and resonance to his meditation on the effects of time and memory in the region of the Tantramar marshes on the Bay of Fundy. 'The Tantramar Revisited' thus gains an historical dimensions (and it is worth remembering here Roberts' well known fascination with the history of the Maritimes) through an allusion inherent in its verse form and its cadences.

Roberts servers the readers' ear notice- of what, in effect, is the imaginative adventure of the poem ; the speaker's discovery of the disconjuction between his expectation and the reality, between his expectation that the marshlands have not been affected by Time and the reality that, of course, they have. The speaker of the poem comes to realize that even in the Landscape of his youth the same forces are at work.

'Nature poetry', wrote Roberts in the December 1897 issue of Forum, (New York), is not mere description of landscape in metrical form, but an expression of one or another of many vital relationships between external

nature and 'the deep heart of man" [6].

The Canadian poet derived his concern for the fact that Man alone, being both a part of and apart from the natural world, feels the burden of time and death, while Nature itself, whether it be through mere endurance (as in the case of geophysical formations such as rock and ocean) or through seasonal and cyclical reoccurance (as in the case with trees, grass and other aspects of the vegetable world), seems immune to the forces of Time and Death. Be this as it may, I shall try to show that a concern with the effects of Time and Death on Man and Nature lies at the coire of 'The Tantramar Revisited' and, moreover, that the interaction bertween 'external nature' and the 'heart' of the speaker is the source of the dialectcal and dramatic development that takes place in the poem. This development resides in the gradual transformation of the speaker's attitude to and perception of the Tantramar landscape from a place where, the forces of 'chance and change' have also taken their roll. By means of the interaction between the speaker (Man) and the landscape (Nature) the poem explores the effects of Time.

Roberts' poetry is, to a large extent, derivative. His poems avail themselves of situations that atre Wordsworthian, images that are Wordsworhtian, phrases that are Wordsworthian.

The poem is his version or more properly, his inversions of Wordsworth's 'Tintern Abbey'. The core of the poem is unmistakably Wordsworthian : the setting is the Lake Country of the Romantics ; the situation a return to the earlier associations of the scene by a matured poet and his sister ; the import, a creed handed down by the poet to his listener.

In 'Tintern Abbey' Wordsworth and Dorothy stand,' here upon the banks of this fair river'. The poet mourns his lost childhood oneness with Nature but derives joy from the knowledge that his sister still possesses the power that he has lost. The poem ends on a triumphant asseration of his belief in a matured and 'sober pleasure' based on the 'wild esctasies' of youth. Memory

becomes a source of joy : Nature never did betray the heart that loved her. The poet, "a worshiper of Nature", can readily become its priest.

In 'Tantramar Revisited' Roberts stands on a tidal river that empties into the Cumberland Basin of the Bay of Fundy : 'here from my vantage ground'. The poem ends with a tinge of hope and memory becomes sad to reminiscent the old landscape ; but he takes consolation ' as I sit and watch this present peace of landscape'. The poem ends with a tinge of hope and memory becomes a source of joy : 'many and many a sorrow has all but died from rememberance'. He hopes to derive a creed based on his observation of Nature. But while Roberts' earning for sobering 'thoughts' suggested by the surroundings is not unlike Wordsworth's, his interpretation of these surroundings is marked different. To Wordsworth the communion between Nature and Man is intself an abundent compensation for the mutability of life - it brings out the communion between brother and sister, man and man and confirms the poet in his role of Nature's high priest. To Roberts on the other hand, the utter impersonality of the scene before him only accentuates the need for an adequate attitude towards a Natural world which can no more provide the 'tender joy' that Wordsworth was capable of extracting from it than it can act as a stimulas for the heightened sensation sought by Roberts.

The isolated poet who converts the 'still sad music of humanity into a joyful faith, has become a detached stoic contemplation, content with, "the hands of chance and change". For what has changed, above all, is the order preceived by the poet and the manner in which the poet's perception has been achived. The devine 'presence' perceived by Wordsworth resides in the lanscape he sees as well as in himself. It is

a sense sublime
Of something far more deeply interfused,
Whose dwelling is the light of setting suns,
And the round ocean and the living air,

And the blue sky, and in the mind of man;
A motion and a spirit that impels,
All living things, all objects of all thought,
And rolls thourgh all things.

To Roberts, on the order had, is the aggregate of all that is visible; an impersonal and tyrannical power which offers not joy, but peace' to him who apprehends its operations.

Yet as I sit and watch, this present peace of the landscape
Stranded boats, these reels empty and idle, the hush
One grey hawk show-wheeling above you cluster of haystacks,
More than the old time stir, how once it stung me with rapture
Old time sweetness, the winds freighted with honey and salt!
Yet will I stay my steps and not go down to the marshland,
Muse and recall far off, rather remember than see
lest on too close sight I miss the darling illusion,
Spy at their task even here the hands chance and change.

Nature has provided Wordsworth with all 'holy love' ; it has only confirmed Roberts' saddened intellectual awareness.

'Tantramar Revisited' and 'Tintern Abbey' rely on the modulation of conflicting moods, both poems conclude on the speaker's subjection to a discipline based on Nature. Wordsworth emphasizes the beneficence of this discipline ; Roberts emphasizes its grim necessity. We see that the poet is emphasizing the speaker's inability noted by strong, to maintain the assurance asserted in the opening section. Instead of a sense of stability reinforced by even candances and balanced statements, we are given in the section an increasing emotional departure from the present. In each case, the

landscape has acted as a guide. But while for Wordsworth Nature is an active teacher and comforter who readily reveals ' a presence that disturbs me with the joy of elevated thoughts', Roberts' thoughts are addressed rhetorically to the impassive landscape before him so that it might confirm his own well rehearsed lesson in the art of remembring :

Miles on miles beyond the the tawny bay is Minudie
These are the low blue hills, village gleam at their feét
Nearer a white sail shines across the water, and nearer Still are
the slim, grey masts of fishing boats dry on the flats.
Ah how well I remember those wide red flats, above tide mark
Pale with scurf of the salt seamed and baked in the sun!
Well I remember the piles of blocks and ropes, and the ret-reels,
Wound with the beaded nets, dripping and dark from the sea.

The lesson of joy given to Wordsworth is thus subverted. For Roberts' nature is utterly impervious to the emotional demands of its students. 'The meadows and the woods and mountains' speak freely to Wordsworth in the "language of sense". Roberts, however, must scrupulously points out that the language he ascribes to the scene before him is really his own.

Wordsworth's vision is transcedent and symbolical : ocean, air, and sky contain the same spirit which dwells ' In the mind of man' Roberts' vision is analytical and allegrical ; the mind of man can tentatively impose its understanding upon what it apprehends through the senses. Therefore, while Wordsworth's poet is medium for the divine plan of Nature, Roberts' poet is merely the interpreter of the 'dumb' wishes of a neutral universe. Whereas Wordsworth becomes infused and intoxicated by the centrifugal power of Nature. Roberts must stand aside and examine his own relative position in time and space in order to preserve his 'hands of chance and change'. To

conclude (in few), ' The Tantramar Revisited', thus, represents Roberts' attempts to give a contemproary 'application' to Wordsworth's Romantic poem.

NOTES

1. **Selected Poetry and Critical Prose** (University of Tomoto Press,1974),p.xxi.
2. Pacey's Essays, p.193
3. Two tone quotations from the opening sections of **Evangeline, The Poetical Works of Longfellow** (London : Fredrick Warne, n.d.) pp.106 and 109, should be sufficient to establish the connections :

   Dikes that the hands of the farmer had raised with labour Intessant,
   Shut out the turbulent tides ; but at stated season the food gates,
   Opened, and welcomed the sea to wander at will over the meadows.
   West and South there were fields of flax, and orchards, and cornfields,
   Spreading after and undefenced over plain ; and away to north ward
   Blomidon rose ....
   Now had the season returned, when the nights grow colder and longer,
   And the retreating sun the sign of the Scropion enters,
   Birds of passage sailed through the leaden air.......
4. **Ten Canadian Poets**, p.48
5. **Charles G.D. Roberts** (Toronto : Ryerson, 1925), p.12
6. **Selected Poetry and Critical Prose**, p.281.

Community Education

Dr. SHASHI BHANU VIDYALANKAR

Community education for Social Development in present scenario :

1. The hazard to the continuity and source of inspiration of the commu nity Education Programme. The main cause of determment to the con tinuity of this programme is the uncertain future of the people involve.
2. Insufficient financial resources.
3. The villager's attitude of indifference towards the programme.
4. The lack of direct and full co-operation of the local unit like Gram Panchayat.
5. The literacy movement has to be related to many related aspects, par ticularly the livelihood of the engaged workers.
6. The literacy should have been thrusts towards the increase of knowl edge, general entertainment and co-operation of the community. For this regional centers of folk culture should be established.
7. Non-Government (NGOs) organisation should be involved and en couraged for the dynamic growth of this programme. For this NGOs should be granted greater freedom to work. At the same time the progress of their work should be assessed from time to time. For adopt ing new methods and to entuse full life to this movement new rural talents of young men and women should be discovered and encour aged to participate in the movement.

ADULT EDUCATION

'Community Education' this phrase of word is generally meant that education for backword people like labours, women of backward areas and generally education for them after the primary education, and specially edu- cation for child labours.

In this changing scenareo where University system is going to be Privatised. In this we can take a topic education for Adults.

The adult education departments were started into the University system as a part of Government policy in 1978. They were initially established as an extension activity to contribute towards national endeavour to eradicate illiterary.

For Adults how this education we can give in the form of community? Answer of this question is that how should Teaching Activities Organised.

METHOD USED :-

Adult education in the form of community is essentially a method of quantitative description of the general characteristics of a group. This mehtod of Adult education in the form of community education deals with the relationship between variables, the listing of hypotheses and development of generalizations that have universal validity. In the words of F. L. Whiteny in his book 'The Elements of Research', Page 161 "nominative survey is an organised attempt to analize, interpret and report the present status of the social institutions, group or area." According to J. W. Best in his book ' Research in Education', Page 107 "Gather data from a relatively large number of cases at a particular time. It is no concerned with the characteristics of individuals. It is concerned with the generalized statistics that result when data abstracted from a numbeer of individual cases."

THE ADJUSTMENT INVENTORY (Adult Form) :

This is developed by H. M. Bell, Dr. J. B. Verma in connection with his post doctral research made an Indian adoptation and translation, All the items have been retained because they were responded well being general in nature even under Indian conditions. The five areas in this connection are- Home, Health, Social, Emotional and Occupational.

How should be it is interviewed. This schedule was developed by the

investigator with a view to see and analyse how for the adults participating in the adults education programmes have been benefitted in a variety of wages. This schedule contains 40 items in the forms of questions, simply because defenite responses on each items may be collected with a view to further analyse the participants way of thinking and behaving and their standards of living. In this scene, this schedule was divided into two parts :

Part-I	Collected informations about the conditions in general includ ing the center which the subjects attended.

Part-II	Contained such items which reflected how much in the adults who have attended such programmes scan read, write and count and calculated.

In this connection hymn's Rigvedas, Mandal 10 and Sukta 191 -

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे सं नो वसून्या भर।।
सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।।
समानो मन्त्र समितिः समानी समानं मनः सह चिन्तमैषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषां जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।ऋग्वेद १०.१९१

Integrated is the expression of knowledge, an assembly is significant in unity's united are their minds in the silent dynamism of all possibilities. For you (says the Seer Samvanan) I make use of the integrated expression of knowledge. By virtue of unitedness, and by means of that which remains to be united. I perform action to generate WHOLENESS OF LIFE, (this menas that the consiousness of the letters of his name, reverberating in the form of this hymn and producing the cognition, proclaims that consciousness, or the pure nature of life, continues to create newer and newer WHOLENESS - all

the time in one grand WHOLENESS. United be your purpose, harmonious be your feelings, collected be your mind (the phrase collected be your mind' calls for integrated neurophysiological functioning) in the same way as all the various aspects of the universe exists in togetherness, WHOLENESS.

The Bhagwad Gita this topic is also explained -

ततत्क्षाविरभूत्वसाक्षात् श्रीरमाभगवत्परा।
रञ्जयन्ती: दिश: कान्त्या विद्युत्सौदामनी यथा।। -
श्रीमद्भागवतम्८.८ ८

Go together, speak together, know your mind to be functioning together from a common source in the some manner as the impulse of Creative Intelligence, in the begining, remain together united near the source.

We can happily the cultivation and propagation of community service with Social forestry. As through social forestry we help the physical environment become more conductive to the physical health of the people. So through community Education we create health Psychological environment in the society. Ignorance is desseases and knowledge health. If we try to educate the entire population of the country we shall have a more powerful and understanding society. Specially for a successful and lively democracy like Indian Education for the masses is a must. It is only the Educated and knowledgable people who can exercise their franchise in a right way.

The Indian siciety is tragically devided into two sharp groups of haves and have's not. The affluent people can afford the higher cost of the education but the general masses struggling only for their livelihood. Simply can not send their children to the schools. Their children themselves for a powerful source of income for the family. That is also another reason that the poor are not motivated to send their children to schools.

Through the advancement of science and technology the whole of the glow is becoming a large village. Soon, we hope that by the mid of the 21st

century the word will come under one banner of government. To Accelerate their realization of one word civilization the masses have to be educated very thouroghly Community Education is not only beneficial for an individual alone, but it is very useful for the whole of the society and humanity at large. If the human civilization has to survive on the globe the people of all community and cultures will have to develop and sense of mutual appreciation, tolerence and peace. It is only in peace time that man's creative spirit can create world civilization and bring about the dawn of new human race.